आधुनिकता और समकालीन रचना-संदर्भ

आधुनिकता और समकालीन रचना संदर्भ

डॉ० नरेन्द्र मोहन

आदर्श साहित्य प्रकाशन
वैस्ट सीलमपुर, दिल्ली-३१

डॉ० इन्द्रनाथ मदान को

आधुनिकता और समकालीन रचना-संदर्भ

अनुक्रम

प्रस्तावना

आधुनिकता कोई निरपेक्ष धारणा या निरंकुश सिद्धांत नहीं है। यह गतिशील आधुनिक स्थिति है जिसका स्वभाव ठहरना नहीं, निरन्तर बदलना है। काल धारणा से मुक्त यह कोई सनातन क्रिया नहीं, आधुनिक युग की गतिशील प्रक्रिया है। आधुनिकता इसी प्रक्रिया से वर्गों मान मिलता है। इस म मानव स्थितियों का यथार्थ है तो संघर्ष और विद्रोह का संकल्प भी है आत्मनिष्ठता है तो सामाजिक यथार्थ भी। इस मनोदृष्टि न आधुनिक तथा समकालीन रचना के बोध और संवेदना की एक अलग पहचान बनायी है और इसे एक अद्वितीय विशिष्टता दी है।

हिन्दी मे आधुनिकता का चिंतन, विशेष रूप से, समकालीन रचना-संदर्भों म हुआ है। इस से पहले इस प्रकार के चिंतन की गुंजाइश कम थी क्योंकि आधुनिक-बोध से सम्पन्न कृतियाँ (कविता, कहानी, उपन्यास नाटक से सम्बद्ध) बहुत कम लिखी गई थी। छायावाद से पूर्व रचित साहित्य म आधुनिकता पृष्ठभूमि म पडी है और मध्यकालीनता का पलडा भारी है। आधुनिकता जितनी भाषा, छन्द और रूपाकार मे व्यक्त हुई है उतनी जीवन दृष्टि या रचना-दृष्टि मे नहीं। भारतेन्दु काल से आधुनिक साहित्य का सूत्रपात मानने के पीछे आधुनिकता का तकाजा उतना नहीं है जितना नयी जागरूकता और आधुनिक अभिरुचि को रेखांकित करना। यह जागरूकता और अभिरुचि आधुनिकता की प्राथमिक हलचल है जो भारतेन्दुकालीन और द्विवेदीकालीन कविता और कथा-साहित्य मे सामाजिक समस्याओं के चित्रण और समाधान तथा घटनाओं के पुनर्संयोजन के रूप मे अभिव्यक्त हुई है। इस साहित्य मे घटनाओं और स्थितियों के प्रति आधुनिक ढंग की प्रतिक्रियाओं का अभाव है। प्रारंभिक दौर की यह आधुनिकता, असल मे, आधुनिक जागरूकता की सूचक है जो छायावाद मे द्वंद्वात्मक रूप ले लेती है। मध्यकालीनता के आधुनिकता मे संक्रमण से जो द्वंद्वपूर्ण स्थितियाँ और मन स्थितियाँ निर्मित हुईं, उन्हीं का

चित्रण छायावादी कविता और गद्य मे हुआ है। इस से मध्यकालीन-बोध और आधुनिक-बोध का द्वंद्व उभर कर सामने आया है। एक ओर परम्परा का उत्कट मोह है तो दूसरी ओर आधुनिकता का तीव्र आकर्षण। यह आधुनिकता के स्वीकार और अस्वीकार की दुविधाग्रस्त मन स्थिति है। यह मन स्थिति प्रसाद, पन्त, निराला और महादेवी की कविताओ के सपूर्ण रचना-विधान मे गुथी हुई है। उस समय के कथा-साहित्य और नाटक मे भी यह मन स्थिति आदर्श और यथार्थ के द्वंद्व के रूप मे अभिव्यक्त हुई है। प्रेमचन्द के उपन्यासो-कहानियो मे तथा प्रसाद के नाटको मे इसे देखा जा सकता है। आगे चलकर 'अज्ञेय' का उपन्यास शेखर एक जीवनी और भुवनेश्वर का नाटक तांबे के कीडे आधुनिकता के ठेठ रूप को सामने लाते है। द्वंद्व और दुविधा का रूप यहा बदला हुआ है—विघटित स्थितियो तथा मूल्य सकट से जुडा हुआ है। इसे प्रयोगशील कविता, नयी कविता, नयी कहानी और नये उपन्यास मे भी देखा जा सकता है। इन मे आधुनिकता के विविध पक्षो और रूपो का अनेकमुखी विकास हुआ है। आधुनिकता का एक रूप अगर आत्मनिष्ठ और आत्मकेन्द्रित है तो दूसरा समाजधर्मी और प्रगतिशील। इन दोनो के तनाव का चित्रण भी समकालीन साहित्य मे है और दोनों मे सतुलन की खोज भी। सन् साठ के बाद के साहित्य म जटिल बद्धमूल मन स्थिति, मानव नियति और स्थिति का एहसास है तो मानवीय-सघर्ष, विद्रोह, आक्रोश और सकल्प का चित्रण भी, घोर रोमैंटिक मुद्राएँ है तो एक विस्फारित तनावपूर्ण मुहावरा भी। बावजूद इसके, समकालीन हिन्दी रचना आधुनिक-बोध या आधुनिकता का विशिष्ट सदर्भ बनी है और इस ने नई करवट लेते हुए आधुनिक मनुष्य का साक्ष्य उपस्थित किया है।

आधुनिक लेखक किसे मानें? क्या उसे जो पूरी तरह से आज से जुड़ा है या कल, आज और कल से? क्या उसे जो यथार्थवादी है, बिम्बवादी है, प्रतीकवादी है? क्या उसे जिसका मुहावरा तेज-तर्रार और तनावपूर्ण है या उसे जिस का मुहावरा सीधा-सपाट और ठडा है? आज के दौर में ऐसे लेखक भी हैं जो न यथार्थवादी दिखते हैं, न बिम्बवादी और न प्रतीकवादी; न आधुनिक लगते हैं न समकालीन। आधुनिकता का अध्ययन करते हुए इन्हें कहा रखा जाए? आधुनिक काव्य प्रवृत्ति के साथ इन की संगति कैसे बैठायी जाए? ये प्रश्न उठने स्वाभाविक हैं। इस संबंध मे इतना तो स्पष्ट हो जाना चाहिए कि आधुनिक होना आज का या एक साथ कल, आज और कल का होना

नही है। आधुनिक बनने के ये दोनो रास्ते लेखक को उत्तेजक या चालू मुहावरो की ओर ले जाते हैं जो आधुनिकता के विरुद्ध जाना है। आधुनिक को किसी सकीर्ण या कट्टर अर्थ मे यथार्थवादी कहना भी उतना ही असगत है जितना उसे प्रतीकवादी या बिम्बवादी कहना। जहाँ तक मुहावरे का सवाल है यह आक्रामक भी हो सकता है और उद्वेगहीन भी, सीधा सपाट भी हो सकता है और बिम्बात्मक भी, देखना सिर्फ यह है कि वह रचनागत सवेदना के उल्टे न पडता हो या उसे झूठा सिद्ध न करता हो। ऊपर से आधुनिक और समसामयिक दिखने पर भी, हो सकता है कोई लेखक आधुनिक न हो और रचना की ऊपरी परत पर आधुनिक न दिखता हुआ भी कोई लेखक आधुनिक हो सकता है।

पश्चिम मे आधुनिकता-आन्दोलन के पतन (?) को लक्षित करके कुछ लोगो को समकालीन हिन्दी साहित्य मे भी इस के पतन के लक्षण दिखने लगे है। ऐसे लेखक आधुनिकता को आधुनिकतावाद के रूप मे ग्रहण करते है और उस की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियो को आधुनिक-बोध का चरम बिन्दु मान लेते है। पश्चिम मे आधुनिकता की मौजूदा स्थिति के आधार पर यहा की आधुनिकता के सबध मे कोई निर्णय नही लिया जा सकता। तथ्य यह है कि आधुनिक हिन्दी रचना के सदर्भ मे आधुनिक-बोध के विकास की सभावनाएँ अभी अनन्त हैं।

आधुनिकता ने आधुनिक हिन्दी रचना के मूल्याकन के लिए परम्परागत समीक्षा-मानो को चुनौती दी है और नए समीक्षा-मान की तलाश को उकसाया है। पर, इसे आधुनिक रचना का प्रतिमान नहीं माना जा सकता। यह न स्वय मे कृति का मूल्य है न मान। यह जरूर है कि आधुनिक रचना के समानान्तर नये समीक्षा-मान की खोज के सिलसिले मे आधुनिकता के औजारो से लैस होना जरूरी है।

इस पुस्तक मे आधुनिकता सबधी किसी सैद्धातिक-दार्शनिक चर्चा मे उलझे बगैर, आधुनिक मानसिकता से जुडे अनेक पक्षो को, समकालीन रचना-सन्दर्भों मे, समझने-पहचानने का प्रयास किया गया है। यह समकालीन परिदृश्य को आधुनिक दृष्टि से देखने का प्रयास है। यहा समकालीन कविता, कहानी, और उपन्यास पर मेरे कुछ लेख और समीक्षाएँ सकलित हैं जिन्हे मैंने आधुनिक विचार की पृष्ठभूमि मे, समय-समय पर लिखा है। इस ढग की पुस्तक मे नए समकालीन नाटक की भी चर्चा होनी चाहिए थी पर कुछेक सीमाओ के कारण नाटक की नयी प्रवृत्ति पर इस मे विचार नही हो सका है। इन लेखो और

समीक्षाओं में आधुनिकता को विषय या थीम के तौर पर नहीं, परिप्रेक्ष्य के रूप में ग्रहण किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित लेखों-समीक्षाओं के संबंध में विद्वान्-मित्रों से बराबर विचार विमर्श होता रहा है। उन के सुझाव मेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान रहे हैं। इस संबंध में मैं डॉ० महीपसिंह, डॉ० रमेश कुंतल मेघ, डॉ० रामदरश मिश्र, श्री देवेन्द्र इस्सर, श्री राजीव सक्सेना, डॉ० हरदयाल, डॉ० विनय और श्री सुरेन्द्र बाहरी के प्रति विशेष रूप से आभारी हूँ।

श्री गुरु तेग़बहादुर खालसा कालेज (दिल्ली विश्वविद्यालय) नई दिल्ली

नरेन्द्र मोहन

आधुनिकता
की
भूमिका

आधुनिकता की भूमिका

आधुनिकता के संबंध मे अन्तिम रूप से कुछ तय कर पाना, निर्णय देना या निष्कर्ष निकालना कठिन है। इसके नित्य क्रियाशील और गतिमान रूप को पकड पाना आसान नही। इसकी सतत गतिशीलता इसे मायावी बना देती है। एक विशेष प्रेक्ष्य-बिन्दु से देखने पर लग सकता है कि इसे पा लिया पर दूसरे क्षण, किसी अन्य कोण से देखने पर इस की एक सर्वथा भिन्न तस्वीर सामने आ सकती है। असल मे, इस की गति को पकडकर यानी इस की गति के समानान्तर चल कर ही इस तक पहुँचा जा सकता है। इसके लिए जरूरी है कि आधुनिकता के प्रति एक खुला दृष्टिकोण अपनाया जाए।

आधुनिकता का प्रथम विस्फोट धर्म और अध्यात्म के क्षेत्रो मे हुआ था जो आधुनिकता को समझने मे आज भी सहायक हो सकता है। पर, इस अर्थ-सन्दर्भ तक आधुनिकता को सीमित नही किया जा सकता, भले ही यह आधुनिकता के लिए आवश्यक सदर्भ और पीठिका है। यह सही है कि शुरू-शुरू मे धर्म और अध्यात्म से इस की सीधी टकराहट हुई थी। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रेरित और परिचालित होने के कारण आधुनिकता ने धर्म और अध्यात्म की तानाशाही को जबरदस्त चुनौती दी थी तथा इन से जुडी स्वीकृत मान्यताओ—मर्यादाओं के आगे प्रश्न-चिह्न लगाने शुरू किये थे। आस्था केन्द्रित दृष्टि के स्थान पर विज्ञान-सम्मत तर्क-दृष्टि का महत्त्व बढ जाने से धर्म और अध्यात्म निर्भर मध्यकालीन जीवन-दृष्टि (और उससे जुडा बोध) उत्तरोत्तर अप्रासगिक होता गया।

आधुनिकता की प्रकृति मूल रूप में इसी तर्कशीलता या प्रश्न-चिह्न की निरन्तरता (डॉ० इन्द्रनाथ मदान) से बनी है जिसके पीछे वैज्ञानिक दृष्टि है। प्रश्न-चिन्ह लगाने की इस प्रवृत्ति ने चिंतन की जड़ प्रणालियों को तोड़ा है। इससे आधुनिक मनुष्य की नयी मानसिकता और बौद्धिक दृष्टि निर्मित हुई है जिसका परम्परा से कोई सीधा सबन्ध नहीं। आधुनिकता को एक सतत क्रियाशील प्रश्न (दूधनाथसिंह) के रूप मे उठाकर इसे अतीत से, मध्यकालीनता से जोडने का उदारवादी दृष्टिकोण भी अपनाया गया है और इसे समयहीन (टाइमलेस) और शाश्वत भी माना गया है। यह मूल रूप मे एक भ्रामक दृष्टिकोण है। 'एक सतत क्रियाशील प्रश्न' के रूप मे भी आधुनिकता आधुनिक युग-सदर्भ की ही देन है। इस मे स्वीकृत मूल्यों, मान्यताओ और धारणाओ का विरोध है और अस्वीकार को विचार और सृजन का आधार बनाया गया है। अस्वीकार की इस दृष्टि से परम्परा से अलग हटने का प्रारम्भ हुआ है। विपिन कुमार अग्रवाल ने ऐतिहासिक अध्ययन की पूर्णता सिद्ध करते हुए आधुनिकता के दोहरे रूप को स्पष्ट किया है, 'आधुनिक का एक पहलू वह है जो वह बीते हुए से शेयर करता है और दूसरा वह जो उसकी अपनी देन है, उसका अपना विशेष गुण है।' आधुनिक रचना के विशेष गुण ही आधुनिकता को निर्धारित करते हैं, परम्परा तो उसके लिए खाद बनती रहती है।

आधुनिकता को इतिहासवाद की दृष्टि से भी देखने की कोशिश, इधर, हुई है जिससे आधुनिकता एक अमूर्त सार्वकालिक धारणा बनकर रह गयी है इस दृष्टि से आधुनिकता का काल निरपेक्ष, कालातीत और कालजयी बना देने का उपक्रम किया गया है। तब आधुनिक होना आधुनिक मनुष्य का ही एकाधिकार नहीं रह जाता क्योंकि आधुनिक मनुष्य (अर्जुन, कौटिल्य, कबीर) भी हुए हैं और इस के पहले भी आधुनिक युगों की कौंध हुई है (डा० रमेश कुन्तल मेघ)। इतिहासवाद के इस *चिन्तन के आधार पर आधुनिकता का 'जो कल था, आज है और कल भी रहेगा'* के प्रवाह में सनातन मान लिया जाता है। आधुनिक और आधुनिकता के सबध मे यह एक विराट सरलीकरण है और आधुनिकता के विशिष्ट गुणो की बलि चढ़ा देने के बराबर है।

आधुनिकता मे अनेक सामाजिक-दार्शनिक पहलू और प्रतिपत्तियाँ विद्यमान हैं। इन का परस्पर विरोध आधुनिक रचना मे कई रूपों तथा विभिन्न स्तरों पर प्रतिफलित होता है। इसमे एक ओर वैयक्तिकता है, दूसरी ओर सामाजिकता, एक ओर मानव नियति का एहसास है, दूसरी ओर आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति, एक ओर जटिल मानव प्रकृति है, दूसरी ओर गहन मानव स्थिति। इसे कही समसामयिक बोध माना गया है, कहीं समसामयिकता का अतिक्रमण करने वाली मूल्य-दृष्टि, कहीं इसे एक काल-खड मे व्याप्त बोध की स्वीकृति माना गया है, कहीं आधुनिकता और समसामयिकता का अन्तर ही गड़बड़ा गया है। यह आधुनिक प्रकृति की द्वद्वात्मक

स्थिति को सूचित करता है जिससे अटकलें लगाने की छूट ले ली जाती है। इन धारणाओं से आधुनिकता का स्वरूप स्पष्ट होने की बजाय उलझता गया है।

आधुनिकता एक प्रश्नाकुल मानसिकता है जो हर बंधी-बंधायी व्यवस्था या मर्यादा या धारणा को तोड़ती है। इसे चरम या निरपेक्ष नहीं माना जा सकता। यह मुख्य रूप से एक ऐसी मानसिकता है जो किसी एक मूल्य, धारणा या सिद्धांत को स्वीकारने से पूर्व, उसे जांचने पड़तालने पर बल देती है। यह मानसिकता मानव स्वभाव की जटिलता और उस के कारण बनते-बिगड़ते सम्बन्धों और संवेदनाओं से जुड़ी है। इस के कई शेड्स हैं—कहीं यह मानव प्रकृति में हो रहे परिवर्तनों को, नवीन अभिरुचियों को रेखांकित करने का स्तर है, जहाँ परम्परा से सहयोग की स्थिति रहती है, तो कहीं यह मानव प्रकृति के मौलिक बदलाव का स्तर है, जहाँ परम्परा को पूर्णतः नकारा जाता है।

आधुनिकता को नितान्त आत्मनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ माना जाता है और इसे आधुनिकता की एक मुख्य विशेषता के रूप में प्रतिपादित भी किया जाता है। आधुनिकता की इस धारणा से प्रेरित साहित्य में व्यक्ति मन का विश्लेषण अधिक रहता है। लेखक बाहरी यथार्थ से जुड़ी हुई बड़ी-बड़ी घटनाओं और प्रसंगों का चित्रण या वर्णन नहीं करता बल्कि उस यथार्थ से उस के अन्तर्मन में जो हलचल हुई, उस का वह चित्र खींच देता है। यह आधुनिक-बोध का आत्मनिष्ठ पहलू है जिसे मार्क्सवादी चिन्तक-आलोचक परम्परा-विरोधी, इतिहास विरोधी और समाज-विरोधी करार देते हैं और इस के लिए वे कामू और काफ्का की कृतियों में से उदाहरण जुटा देते हैं। यह आधुनिक आत्मनिष्ठता को पूर्वाग्रहों और मताग्रहों के बल पर आंकने का परिणाम है। सच्चाई यह है कि यह आत्मनिष्ठता आत्मिक स्तर पर इतिहास-बोध की समवर्ती स्थिति है। इस में बाहरी यथार्थ का संदर्भ प्रत्यक्ष न हो कर, रचना में घुला-मिला रहता है। आधुनिक लेखकों ने जिन मानव-स्थितियों की ओर संकेत किया है वे ऐसी हैं जो घोर वैयक्तिक सन्दर्भों को भी गहराती हैं और सामाजिक सन्दर्भों को भी। मार्क्सवादी आलोचकों के समान मानव-स्थितियों के उल्लेख मात्र से परेशान होने की जरूरत नहीं और न अस्तित्ववादी चिन्तकों की तरह सामाजिक यथार्थ से पीछा छुड़ाने या कतराने की जरूरत है।

आधुनिकता को अस्तित्ववादी अर्थ में ग्रहण करने से जहाँ एक ओर भ्रान्तियाँ फैली हैं वहां इसे मार्क्सवादी अर्थ में ग्रहण करने से, **मानवीय विचारों के समाजशास्त्रीय विकास से अन्तर्बद्ध करके** देखने से आधुनिकता को एक चरम सूत्र और जड़ स्थिति बना दिया गया है। इस ढंग की कोई भी 'वादी' व्याख्या इस के बहुस्तरीय और बहुआयामीय चेहरे की पहचान नहीं पाने देती। आधुनिकता जैसी संश्लिष्ट, व्यापक और विकासमान प्रक्रिया की समझ के लिए एकपक्षीय परिभाषाओं तथा व्याख्याओं के घेरे से बाहर आकर इस के प्रति खुली मानसिक दृष्टि अपनाना बहुत जरूरी है। यह

एक ऐसी दृष्टि है जो अस्तित्व के बुनियादी प्रश्नों तथा सपूर्ण मानवीय व्यक्तित्व से अपना गहरा सरोकार बनाए है। इस दृष्टि के अन्तर्गत जहा एक ओर मानव व्यक्तित्व की स्वतन्त्रता समाहित है तो दूसरी ओर मानव-मुक्ति की गतिशील धारणा भी। इसमे एक ओर स्वच्छन्द रूप से आत्म-निर्णय की स्वतन्त्रता की विद्यमानता है तो दूसरी ओर मानव-मुक्ति की कामना की सक्रियता भी। आधुनिकता की यह धारणा एक ओर सामाजिक दर्शन से, सामाजिक यथार्थ से जुडती है तो दूसरी ओर अस्तित्व दर्शन से, अस्तित्वगत स्थितियो के यथार्थ से। आधुनिकता के अन्तर्गत जिस यथार्थ की स्वीकृति है, उस का स्वरूप बडा जटिल और पेचीदा है। विभिन्न विचार-धाराएँ इस यथार्थ को समझने मे सहायक हो सकती हैं, लेकिन, किसी एक दर्शन या विचार-धारा के बल पर इस यथार्थ को पूरा-पूरा पकड पाना कठिन है। आधुनिकता का तकाजा है कि वादो के दायरो से बाहर निकल कर इस जटिल यथार्थ और उलझी हुई मानव प्रकृति को समझा जाए और उस की पहचान पायी जाए। केवल व्यक्ति-बद्ध यथार्थ या अस्तित्ववादी ढग का यथार्थ आधुनिकता का पर्याय नही है। इसी तरह केवल सामाजिक यथार्थ या मानव मुक्ति की किसी प्रगतिवादी या अन्य किसी 'वादी' धारणा तक आधुनिकता को सीमित नही किया जा सकता। आधुनिकता यथार्थ के इन दो पहलूओ से ही नही, अन्य कई पहलूओ से भी जुडी है। एक पहलू की तुलना म दूसरे पहलू को तरजीह देना आधुनिक विचार की नींव को ही ढहा देना है।

आधुनिकता को खडो मे विभाजित करके नही समझा जा सकता। एक ढग का आधुनिक-बोध मानवीकृत है और दूसरे ढग का अवमानवीकृत, यह वर्गीकरण आरोपित दृष्टि का परिणाम है। यथार्थ या अयथार्थ, वास्तविक या अवास्तविक, सही या गलत के लेबल आधुनिकता पर नही चिपकाए जा सकते। यह कोई ठोस अचल पदार्थ नही जिसे टुकडो मे बाटा जा सके। यह एक सश्लिष्ट व्यापार है जिस मे अनेक गुण, अनेक विशेषताएँ, अनेक प्रवृत्तियाँ विरोधात्मक स्थिति मे, एक साथ विद्यमान रह सकती हैं। यह दावा करना कि एक ढग की विद्यमानता आधुनिकता है, दूसरे ढग की नही, आधुनिक रचना की जटिल सृजन प्रकृति को समझने से इन्कार करना है और आधुनिकता को सकीर्ण मतवाद के शिकजे मे कसना है।

इधर एक बडे पैमाने पर नगरो—महानगरो का आधुनिकीकरण हुआ है। कहना चाहे तो इसे आधुनिकता का परिवेश या सदर्भ कह सकते हैं। इसका सर्जक, कलाकार के साथ एक अटूट रिश्ता है। लेखक की सर्जनात्मक चेतना पर जाने-अनजाने इस का प्रभाव पडता है। यह प्रभाव जितना सघन और गहन होगा और उस की अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म और अमूर्त-कलात्मक होगी उतनी ही यह रचना आधुनिक-बोध के सप्रेषण मे सफल होगी। बाह्य परिवेश के प्रति स्थूल ढग की प्रतिक्रिया व्यक्त करने वाली या उसका रेखाकन खीचने वाली रचनाएँ आधुनिक-बोध

से कोसो दूर रहती हैं। आधुनिक लेखक परिवेशगत यथार्थ को अपने भीतर रूपान्तरित और अमूर्त करता हुआ उसे सृजित करता है। बाह्य और भौतिक फैलाव को भीतर ले जा कर अभिव्यक्त करने की यही रचनात्मक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के अन्तर्गत अद्वितीय आधुनिक स्थितियो का एहसास रचना के हर स्तर (उस की सवेदना, रूप बध, और मुहावरे) पर होना है। ये स्थितियाँ मानव स्थितियो से, व्यक्ति की स्वातत्र्य कामना से, मानव-मुक्ति की आकाक्षाओ से, अपनी अस्मिता को पहचानने की छटपटाहट से सम्बद्ध हो कर विविध रूपो मे अभिव्यक्त होती हैं।

आधुनिकता का प्रश्न कृतियो के रूप-विधान, भाषा और शिल्प से जुडा हुआ है—पर एक हद तक ही। कवि या कथाकार की बदली हुई दृष्टि और सवेदना को पुराने और परम्परागत ढाँचो मे खपाने की कोशिश या इस स्तर पर पुराने और नए म समन्वय बैठाने से रचना के चौपट हो जाने का खतरा बराबर बना रहता है। पुराने और क्लासिकल काव्य रूपो (महाकाव्य, खडकाव्य आदि) से एक खास ढग की सुनिश्चित प्रतिक्रियाएँ ही जग पाती हैं। आधुनिकता का इन रूढ *प्रतिक्रियाओ* से कोई वास्ता नही है। आधुनिकता के अन्तर्गत नियत और निर्धारित तत्त्वो को नकारा जाता है। इसी लिए ये काव्य रूप आधुनिक रचना के लिए इतने काम के नही रह गये हैं। इन रूपाकारो मे आधुनिकता की अभिव्यक्ति का प्रयास स्वय मे एक विरोधाभास है। आधुनिक सवेदना के समानान्तर या तो परम्परागत रूपाकारो का ध्वस होना चाहिए या नए काव्य-रूपो, रूप-बधो का अन्वेषण। आधुनिकता की निरन्तर विकासमान प्रकृति म नए रूपो की खोज का सिलसिला जारी रहता है। यह बात भाषा और शिल्प के बारे म भी कही जा सकती है। आधुनिक चेतना अपने लिए नयी भाषा और नए शिल्प की तलाश करती है। भाषा और शिल्प का पुराना ढर्रा आधुनिक के सप्रेषण मे एक बहुत बडी बाधा है। आधुनिकता के दबाव से रचनात्मक भाषा का बुरी तरह से उलट-पुलट जाना स्वाभाविक है। आधुनिक रचना मे भाषा का नए सिरे से सर्जनात्मक प्रयोग रहता है और भाषा शिल्प-साधनो की बैसाखी के सहारे नही बल्कि रचना की भीतरी तहो मे रसी-बसी व्यवहार करती है। पर, आधुनिकता के लिए रूप-बध, भाषा और शिल्प का अतिरिक्त आग्रह बेकार है। इस से आधुनिकता को एक अतिवादी और ऊट-पटाग हद तक भी ले जाया गया है जिस से आधुनिकता खडित हुई है और इस के सबध मे भ्रान्तियाँ फैली है। नए-पन की भोक मे एक गढा हुआ रचना-तत्र, चमत्कारदार शिल्प, चालू मुहावरों वाली उत्तेजक भाषा, साहित्यिकता को भले सूचित करती हो, आधुनिकता से इन का दूर का भी कोई रिश्ता नही है। अगर रचना का भीतरी मिजाज बदला हुआ नही है तो रूप-विधान सबधी छुटपुट परिवर्तन, पुराने प्रतीको के बदले नए प्रतीकों का सयोजन, और शिल्पगत चमत्कारो का कोई महत्त्व नही। इसीलिए, आधुनिकता के सदर्भ मे रूप, शिल्प और भाषा की बात एक हद तक ही की जा सकती है, उसके बाद नहीं।

आधुनिकता समकालीनता का पर्याय नहीं है। समकालीन सदर्भ को लेकर लिखी गई हर रचना आधुनिक हो ही, यह जरूरी नहीं है। समकालीन स्थितियों के प्रति मात्र जागरूकता से या उनके महज चित्रण से या औसत स्थितियों को शब्दाडंबर में रख देने से रचना आधुनिक नहीं हो जाती। इस से यह आशय नहीं लिया जाना चाहिए कि आधुनिकता का समकालीनता से कोई सबध नहीं। आधुनिक बोध से संयुक्त हर रचना समकालीन सन्दर्भों में अनिवार्यत: जुड़ी रहती है। पर, समकालीन संदर्भों तक सीमित रह जाने वाली रचना आधुनिक नहीं मानी जा सकती। समकालीन लेखक एक अर्थ में पक्षधर होता है। वह किन्हीं स्थितियों और दृष्टियों का पक्षपातपूर्ण चित्रण और वर्णन करने लग जाता है। केवल समकालीनता पर टिकी लेखकीय दृष्टि के लिए एकांगी हो जाने का खतरा बना रहता है जिस से जीवन को उस की समग्रता में देख पाना संभव नहीं रह जाता। आधुनिक लेखक समकालीनता का अतिक्रमण करता है और उस की नयी व्याख्या करता है। आधुनिक लेखक समकालीन स्थितियों को बोध के स्तर पर ग्रहण करता है। वह समसामयिक आग्रहों से बचता हुआ आधुनिक जिन्दगी को उस की पूर्णता में देखने की कोशिश करता है। समकालीन लेखक 'आज' की तात्कालिकता से परिचालित होता है जब कि आधुनिक लेखक समकालीन परिदृश्य के प्रति सजग और संवेदनशील होता हुआ भी, समकालीन मूल्यों को चरम और अन्तिम नहीं मानता।

आधुनिकता को ध्यान में रखें तो कई प्रकार के लेखक रचना-कर्म में प्रवृत्त दीखते हैं। एक वे जो व्यक्तिबद्ध यथार्थ के हामी हैं और सामाजिक स्थिति या प्रगति से कहीं जुड़े हुए महसूस नहीं करते। सामाजिक प्रतिबद्धता में उन का विश्वास नहीं। उनके लिए व्यक्ति सर्वोपरि इकाई है। दूसरे लेखक वे हैं जो आधुनिकता को *सामाजिक यथार्थ या सामाजिक दर्शन के रूप में ग्रहण करते हैं और जिन का विश्वास* है कि विज्ञान पुरानी दकियानूस मान्यताओं की जगह एक नए वैचारिक उन्मेष को जन्म दे सकता है। एक अन्य प्रकार के लेखक वे हैं जिन के लिए आधुनिकता न व्यक्तिबद्धता है न समाजबद्धता। वे इन दोनों स्थितियों और दृष्टियों के तनाव को झेलते हैं या उन में सामंजस्य की खोज करते हैं। हिन्दी में कुछ ऐसे लेखक भी हैं जो हर नए मुहावरे को लेकर उड़ते हैं, नयी शैली का चमत्कार दिखाते हैं, नए शिल्प या शिल्पहीनता का आभास देते हैं, तो भी जिन्हें आधुनिक नहीं कहा जा सकता। आधुनिक जीवन के बदलते हुए रूपों से इन का परिचय तो रहता है और ये आधुनिक दिखने के लिए रूप-रचना और मुहावरे में तेजी से परिवर्तन भी करते चलते हैं पर, बावजूद इस के इन की रचना का आधुनिकता या आधुनिक मनुष्य की *समस्याओं से कोई सरोकार नहीं होता।*

साहित्य के संदर्भ में आधुनिकता निश्चय ही, एक जटिल समस्या है जिसकी न तो सीधी सरल व्याख्या की जा सकती है न कोई हल दिया जा सकता है। यह

समस्या रचनाकार के संपूर्ण व्यक्तित्व और उस की रचना-प्रक्रिया से जुडी है जो अपने आप म कोई कम उलझा हुआ विषय नहीं है। लेखक के सामने बहुत-सी समसामयिक स्थितियां और धारणाएँ रह सकती है—ऐसी स्थितियाँ भी जो एक दूसरे के विरुद्ध पडती हो और जिन मे ताल-मेल बैठाना कठिन हो। ऐसे म, लेखक का सर्जक व्यक्तित्व और उस की रचना-प्रक्रिया निर्धारक तत्व सिद्ध होते हैं जो उसे यह पहचान देते है कि वह स्थितिया का चुनाव और प्रस्तुतीकरण कैसे करे ? आधुनिकता रचना से अलग कोई ऐसी चीज नही जिसे ओढने स काम चल सके। इस की सार्थकता रचना मे चारितार्थ होन मे है।

समकालीन
रचना-संदर्भ

१

कविता

प्रयोगशील कविता :
तात्त्विक और रचनात्मक धरातल

छायावाद का विरोध तीन स्तरों पर हुआ था—वैयक्तिक स्तर पर प्रगतिवादी स्तर पर और प्रयोगवादी स्तर पर। आगे चलकर इन्हें ही व्यक्तिपरक काव्य-धारा, प्रगतिवादी काव्य-धारा और प्रयोगवादी काव्य धारा की संज्ञाओं से अभिहित किया गया। ये तीनों काव्य-धाराएँ एक-दूसरे के समानान्तर उठी थीं और काफी दूर तक एक-दूसरे को काटती-पीटती और अन्तर-रूपान्तरित करती हुई चलती रही थीं। इनमें जहाँ छायावाद की अतीन्द्रियता, भावुकता, आदर्शवाद और कल्पनातिरेक का विरोध और निषेध किया गया था, वहाँ इनमें जीवन-यथार्थ को अपने अपने ढंग से व्यक्त करने की छटपटाहट भी थी। इन तीनों काव्य धाराओं में छायावाद के विरोध का स्तर और यथार्थ की परिकल्पना भिन्न भिन्न थी। ये काव्य धाराएँ मात्र प्रतिक्रियाजन्य नहीं थीं बल्कि अपने समय में गहरे में जुड़ी हुई थीं। यह समय संशय', 'आत्म अन्वेषण और कुछ हद तक 'अस्वीकार' का था। युग के इस संदर्भ में छायावादी मूल्यों की 'मिथ' खंडित हो चुकी थी और एक मूल्यगत संकट गहरा रहा था। इस संकट को स्वयं छायावादी कवि भी अनदेखा नहीं कर सके थे।

प्रयोगवाद का प्रवर्तन सन् १९४३ में 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित **तार सप्तक** के प्रकाशन से माना जाता है। पर, चूँकि किसी काव्य-धारा या काव्य-प्रवृत्ति का आरम्भ आकस्मिक नहीं होता, अत. **तार सप्तक** की स्थिति और ऐतिहासिक देन को समझने के लिए सन् ३७-४३ के बीच

के पाँच वर्षों के संक्रमण-काल को समझना बहुत जरूरी है। पंत ने जुलाई, १९३८ में रूपाभ के सम्पादकीय में लिखा था—"इस युग में जीवन की वास्तविकता ने जैसा उग्र आकार धारण कर लिया है, उससे प्राचीन विश्वासों में प्रतिष्ठित हमारे भाव और कल्पना-मूल हिल गये हैं—अतएव इस युग की कविता स्वप्नों में नहीं चल सकती। उस की जड़ों को अपनी पोषण सामग्री ग्रहण करने के लिए कठोर धरती का आश्रय लेना पड़ रहा है। ' हमारा उद्देश्य उस इमारत में थूनियाँ लगाने का कदापि नहीं है, जिसका कि गिरना अवश्यभावी है। हम तो चाहते हैं उस नवीन के निर्माण में सहायक होना जिस का प्रादुर्भाव हो चुका है।" पंत के इस कथन से स्पष्ट है कि सन् ३७-३८ के आस-पास युगीन परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं और एक नयी वास्तविकता का प्रादुर्भाव हो चुका था, जिसके रू-ब-रू उस समय का रचनाकार था। अब ३७-३८ में ही कविता में परिवर्तन के संकेत मिलने शुरू हो गए थे। छायावादी कवि पंत और निराला पुरानी काव्य-रूढ़ियों को तोड़ कर, नए जीवन सत्य को वाणी देने का प्रयास कर रहे थे। इन के अतिरिक्त शमशेरबहादुर सिंह, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल और नरेन्द्र शर्मा आदि कवि नए ढंग की यथार्थवादी रचनाएँ लिख रहे थे। प्रभाकर माचवे, भारत-भूषण अग्रवाल, गिरिजाकुमार माथुर और 'अज्ञेय' की कविताएँ जो रूपाभ, उच्छृंखल, विशाल भारत और हंस में छपा करती थीं, एक भिन्न सौंदर्याभिरुचि का परिचय दे रही थीं। इन कविताओं में कहीं संशय था, कहीं अस्वीकार, कहीं कुंठा और कहीं संकट से कतरा कर बच निकलने वाला भावुक ढंग का पलायन। कवि की विज्ञानजन्य त्रिविध-दृष्टि अध्यात्म और दर्शन-निर्भर मध्यकालीन मूल्यों के सामने प्रश्न चिह्न तो लगाती थी, पर पिछड़े संस्कार भी उस पर हावी थे। आधुनिकता अपना मार्ग ढूंढ रही थी पर पुराने संस्कारों और मूल्यों के कारण वह अवरुद्ध हो जाती थी। कवि का आन्तरिक द्वंद्व आधुनिकता के चेहरे को साफ साफ उभरने नहीं देता था जिस से इसकी अभिव्यक्ति अधूरी रह जाती थी। निश्चय ही, यह प्रारम्भिक दौर की आधुनिकता थी जिसे 'अज्ञेय' ने प्रयोगधर्मिता से जोड़ कर, एक नया आयाम दिया। उन्होंने इस संक्रमण-काल में उदित कुछ महत्त्वपूर्ण काव्य-प्रवृत्तियों को तार सप्तक में संकलित करने का ऐतिहासिक कार्य किया था।

सन् १९४३ में 'अज्ञेय' द्वारा सम्पादित तार सप्तक में पहली बार तत्कालीन, नवीन काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या और सम्पादन का महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ। उन्होंने काव्य क्षेत्र में उदित नए क्षितिजों को तार सप्तक में बांधा और 'विवृति और पुरावृत्ति', नामक भूमिका द्वारा नयी काव्य-प्रवृत्तियों की व्याख्या की। नयी काव्य-प्रवृत्तियों को संगठित रूप में प्रस्तुत करने का यह पहला प्रयास था और इन्हें काव्य-धारा के रूप में प्रवर्तित करने का श्रेय, निश्चय ही, 'अज्ञेय' को है। इस के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार हैं : "तार सप्तक में सात कवि संग्रहीत हैं। सातों एक-दूसरे से परिचित हैं—बिना इस के इस ढंग का सहयोग कैसे होता ? किन्तु इस से

यह परिणाम न निकाला जाए कि वे कविता के किसी एक 'स्कूल' के कवि हैं या कि साहित्य-जगत् के किसी गुट अथवा दल के सदस्य या समर्थक हैं। बल्कि उनके तो एकत्र होने का कारण ही यही है कि वे किसी एक स्कूल के नहीं हैं, किसी मंजिल तक पहुँचे हुए नहीं हैं, अभी राही हैं, राही नहीं, राहों के अन्वेषी।"——"काव्य के प्रति एक अन्वेषी का दृष्टिकोण उन्हें समानता के सूत्र में बाँधता है। इस का यह अभिप्राय नहीं है कि प्रस्तुत संग्रह की सब रचनाएँ प्रयोगशीलता के नमूने हैं, या कि इन कवियों की रचनाएँ रूढ़ि से अछूती हैं, या कि केवल यही कवि प्रयोगशील हैं और बाकी सब घास छीलने वाले, वैसा दावा यहाँ कदापि नहीं, दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं।"[1] 'अज्ञेय' के इस कथन से तीन बातों पर प्रकाश पड़ता है—एक, तार सप्तक के कवि किसी एक स्कूल से सम्बन्धित नहीं हैं, दूसरे, वे राहों के अन्वेषी हैं और काव्य के प्रति उन का दृष्टिकोण एक अन्वेषी का है, तीसरे, तार सप्तक की सभी कविताओं के प्रयोगशील होने का दावा नहीं है, दावा केवल इतना है कि ये सातों अन्वेषी हैं। तार सप्तक की योजना का मूल सिद्धान्त ही यह था कि 'संगृहीत कवि सभी ऐसे होंगे जो कविता को प्रयोग का विषय मानते हैं।'[2] स्पष्ट है कि तार सप्तक में ऐसे कवि संकलित हैं जो कविता में नयी राहों अथवा नयी काव्य-रीतियों के अन्वेषण के पक्षधर हैं। 'ये सभी इस के लिए भी तैयार हैं कि तार सप्तक के पाठक वे ही रह जायें! क्योंकि जो प्रयोग करता है, उसे अन्वेषित विषय का मोह नहीं होना चाहिए।'[3] 'अज्ञेय' के इन कथनों के आधार पर ही तार सप्तक के कृतित्व को आलोचकों ने प्रयोगवाद की संज्ञा दे दी। यह सही है कि 'अज्ञेय' ने प्रयोग को वाद के रूप में प्रतिपादित नहीं किया था, पर उन के द्वारा प्रयुक्त 'प्रयोग', प्रयोगशील और 'अन्वेषी' शब्दों पर जो बल दिया गया था, उससे ऐसा प्रतीत होता था जैसे वे प्रयोग को साध्य मान रहे हों। इन शब्दों के अतिरिक्त बल को रेखांकित करके ही तार सप्तक के कृतित्व को प्रयोगवाद की संज्ञा दे दी गयी। 'अज्ञेय' ने बाद में प्रतिवाद भी किया—"प्रयोग का कोई वाद नहीं है। हम वादी नहीं रहे, नहीं हैं। न प्रयोग अपने-आप में इष्ट या साध्य है। ठीक इसी तरह कविता का भी कोई वाद नहीं है ···· अतः हमें 'प्रयोगवादी' कहना उतना ही सार्थक या निरर्थक है जितना हमें 'कवितावादी' कहना।"[4] पर इस प्रतिवाद के बावजूद प्रयोगवाद शब्द तार सप्तक से लेकर १९५० तक की कविता के लिए रूढ़ हो गया।

१. अज्ञेय : तार सप्तक, द्वितीय संस्करण, 'विवृत्ति और पुरावृत्ति', पृ० १२
२. वही, पृ० ११
३. वही, पृ० १४
४. दूसरा सप्तक, पृ० ६

प्रश्न हो सकता है कि काव्य के स्तर पर 'प्रयोग' का क्या आशय है और काव्यगत प्रयोगों की क्या सार्थकता है? काव्य-स्तर पर प्रयोग साधन ही होता है, साध्य नहीं। कवि अपने अनुभूत सत्य को अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है और इस प्रयास के दौरान वह अभिव्यंजना की पुरानी रूढ़ियों को तोड़ कर भाषा और शिल्प के क्षेत्र में नूतन प्रयोग करता है। 'अज्ञेय' ने भी दूसरे सप्तक की भूमिका में प्रयोग को दोहरा साधन माना है 'क्योंकि एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है, जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण की क्रिया को और उसके साधनों को जानने का भी साधन है। प्रयोग द्वारा कवि अपने सत्य को *अधिक अच्छी तरह जान सकता है और अधिक अच्छी तरह अभिव्यक्त कर सकता* है। वस्तु और शिल्प दोनों के क्षेत्र में प्रयोग फलप्रद हो सकता है।' इस कथन से स्पष्ट है कि 'अज्ञेय' ने प्रयोग को साधन माना है और यह साधन वस्तु और शिल्प दोनों में ही फलप्रद हो सकता है। इस प्रकार प्रयोगों का वैशिष्ट्य तीन रूपों में हो सकता है नयी, विषय-वस्तु के रूप में जिस में 'नए सत्य की खोज' का प्रयास रहता है, दूसरे, शिल्प के रूप में जिस के अन्तर्गत नूतन उपमानों, बिम्बों और प्रतीकों का विधान रहता है, तीसरे, भाषा के रूप में अर्थात् भाषा के रूढ़ अर्थ को त्याग, उस में विशिष्ट अर्थ की प्रतिष्ठा की जाती है। प्रयोगों के इस वैशिष्ट्य को, प्राय, परम्परा की दुहाई देकर नकारा जाता है और कहा जाता है कि प्रयोग तो सभी कालों में हुआ करते हैं। एम लोग यह भूल जाते हैं कि 'परम्परा' कम से कम *कवि के लिए कोई ऐसी पोटली बाँध कर रखी हुई चीज नहीं है जिसे वह उठाकर* सिर पर लाद ले और चल निकले। और यह भी कि पिछले कालों में हुए प्रयोगों और आज के प्रयोगों में 'परिस्थिति, प्रयोजन, दिशा और आग्रह' का अन्तर है। इस अन्तर को लक्षित किए बिना इन प्रयोगों को नहीं समझा जा सकता।

प्रयोगवादी कवियों ने अपने प्रयोगों द्वारा पुरानी काव्य-रीतियों और रूढ़ियों को तोड़ कर, नयी और अनजानी राहों पर चलने के खतरे उठाए थे और कविता के स्तर पर प्रयोगों की सार्थकता और औचित्य प्रमाणित करने की कोशिश की थी। इस कोशिश में वे सर्वत्र सफल रहे हों, ऐसी बात नहीं। उनके प्रयोग कहीं-कहीं नितान्त वैयक्तिक, अनर्गल और हास्यास्पद प्रतीत होते हैं, पर उन की प्रयोगशील वृत्ति ने आधुनिकता-बोध की भूमिका निर्मित करने में महत्वपूर्ण योग दिया, इसमें सन्देह नहीं।

प्रयोगवाद की मुख्य और विशिष्ट प्रवृत्तियों का विवेचन करते हुए प्रयोगवाद के रचना सार और की परख की जा सकती है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह कि यह कविता व्यक्ति-केन्द्रित है। अहं की प्रवृत्ति या आत्मपरकता प्रयोगवादी कविता के कवियों की मुख्य प्रवृत्ति है। यह 'व्यक्ति' छायावादी कविता के 'व्यक्ति' के समान वायवी और रहस्य में न डूबकर जटिल और कुंठित है, व्यक्तिपरक कविता के समान भावुक और कल्पनाशील न होकर मन की भीतरी तहों में विचरण करने वाला

बौद्धिक प्राणी है। इस कविता मे व्यक्ति की अपनी इकाई और विशिष्टता है जैसे कि नदी की धारा म नदी के द्वीप

द्वीप हैं हम, नहीं है शाप
यह अपनी नियति है ?
× × ×
फिर छनेंगे हम। जमेंगे हम। कहीं फिर पैर टेकेंगे।
कहीं फिर भी खड़ा होगा नव व्यक्तित्व का आधार,

(पूर्वा, पृ० २११-१२)

व्यक्ति का यह वैशिष्ट्यपूर्ण रूप प्रयोगवादी कविता मे अनेक स्तरों पर हुआ है। आत्मरति और अह के रूप म इसे देखा जा सकता है। एक ओर 'अज्ञेय' कहते हैं

अह ! अन्तर्गुहावासी ! स्वरति ! क्या मैं चीन्हता
कोई न दूजी राह ?
जानना क्या नहीं, निज मे बद्ध हो कर है नहीं निर्वाह ?
× × ×
बना हूँ कवि, इसी से कहूँ, मेरी चाह, मेरा दाह, मेरा खेद और उछाह

(पूर्वा, पृ० २००)

तो दूसरी ओर मुक्तिबोध अह के एक अन्य स्तर क्षोभ का, जो सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ा है, उद्घाटन करते हैं

किन्तु आज लघु स्वार्थों मे घुल, क्रन्दन विह्वल
अन्तर्मन यह टार रोड के अन्दर नीचे बहने वाली गटरों से भी
है अस्वच्छ अधिक
यह तेरी लघु विजय और लघु हार।
तेरी इस दयनीय दशा का लघुतामय ससार
अह भाव उत्तुग हुआ तेरे मन मे
जैसे घूरे का उट्ठा है
घृष्ट कुकुरमुत्ता उन्मत्त

(तार सप्तक, पृ० ५७)

अह का यह स्तर व्यापक असतोष से सम्बद्ध है। अन्य कई स्थलो पर भी अह को बृहत्तर सामाजिक सन्दर्भों से जोड़ने या उनके प्रति विसर्जित होने का भाव व्यक्त है :

यह दीप अकेला स्नेहभरा है गर्वभरा
मदमाता पर इस को भी पक्ति को दे दो।

ये कवि जीवन यथार्थ से कटे हुए नहीं थे। यथार्थ से इन का पूरा सरोकार था (मैं ही हूँ वह पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता)। अपने परिवेश के प्रति ये कवि अत्यधिक जागरूक और सवेदनशील थे। उनका सौंदर्य-बोध और उनकी सवेदना को

तत्कालीन भीषण और विषम परिस्थितियों ने प्रभावित किया है। तभी तो उसे उज्ज्वल चांदनी वचना लगती है

> वचना है चांदनी सित
> झूठ वह आकाश का निरवधि गहन विस्तार
> शिशिर की राका-निशा की शांति है निस्सार
> दूर वह सब शांति, वह सित भव्यता
>
> (तार सप्तक, पृ० २८६)

'अज्ञेय' में शब्दा म कवि के लिए इस परिस्थिति मे और भी कठिनाइयां है। 'एक मार्ग मौन स्वप्न-सृष्टि का— दिवा स्वप्नों का है, उसे वह नहीं अपनाना चाहता। फिर वह क्या करे ? यथार्थ दर्शन केवल कुंठा उत्पन्न करता है। वास्तव की वीभत्सता की कसौटी पर, चांदनी खोटी दीखती है। कवि अपनी काव्य-परम्परा का मूल्यांकन करता है और चारण-काल से लेकर छायावाद तक की कविता को तात्कालिक परिस्थिति अथवा जीवन-प्रणाली पर घटित करके समझ लेता है, किन्तु फिर भी जीवन के दबाव की अभिव्यजना का मार्ग उसे नहीं दीखता।'

यह सही है कि तब इन कवियों को कोई भी रास्ता साफ नजर नहीं आ रहा था। मूल्यगत स्तर पर एक जबरदस्त विघटन था जिस से इन कवियों की मन स्थिति दुविधाग्रस्त थी। एक ओर थे 'मुक्तिबोध' जो अपने काव्य को 'पथ ढूंढने वाले बेचैन-मन की अभिव्यक्ति' कहते थे तो दूसरी ओर थे भारतभूषण अग्रवाल जिनकी 'अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित' है

> कौन सा पथ है ?
> 'महाजन जिस ओर जायें'— शास्त्र हुंकारा
> 'अन्तरात्मा ले चले जिस ओर'— बोला न्याय-पंडित
> 'साथ आओ सर्व-साधारण जनों के'— क्रांति वाणी
> पर महाजन-मार्ग-गमनोचित न संबल है, न रथ है,
> अन्तरात्मा अनिश्चय-संशय-ग्रसित,
> क्रान्ति-गति अनुसरण योग्या है न पद सामर्थ्य
>
> (तार सप्तक, पृ० १०६)

यह अनिश्चय और संशय युग जनित है। प्रयोगवादी काव्य बोध की यह मूल धुरी है। इस काव्य-धरातल पर इन कवियों ने नयी राहों और मूल्यों का संधान किया था। इसीलिए इस काव्य में एक ओर मोह-भंग है तो दूसरी ओर मूल्यान्वेषण। इस काव्य में जो निराशा, हताशा और अवसाद दृष्टिगोचर होता है, वह व्यापक मोह भंग की प्रवृत्ति से जन्मा हुआ है। नेमिचन्द्र जैन की कविता 'व्यर्थ' में निराशा और हताशा बोध से सम्बद्ध मोह-भंग की पूरी प्रक्रिया मौजूद है :

> भिन्न पथ इतर,
> विवश मैं हार जाता हूँ भटककर मौन हो,

बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से
सतत निर्वासित हृदय से।
तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे असंगत दर्प ने मन की
सहज अनजान स्वाभाविक अनावृत धार को
कर दिया है कुण्ठित—
सहज अंगारे
कि मानो दब गए हों बुझे से
जैसे कि ठण्डी राख में

(तार सप्तक, पृ० ३८)

इस मोह-भंग की प्रक्रिया के साथ-साथ इस कविता में जीवन का अर्थ पाने की मूल्यान्वेषण की भी सहज जिज्ञासा है। इस सम्बन्ध में 'मुक्तिबोध' की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती है :

अर्थ खोजी-प्राण ये उद्दाम है,
अर्थ क्या ? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह ?
अर्थ क्या ? ललकार मेरी है प्रखर

(तार सप्तक, पृ० ५३)

प्रयोगवादी सौंदर्य-दृष्टि छायावादी सौंदर्य-दृष्टि से भिन्न थी। यह अतीन्द्रिय और वायवी न होकर ऐन्द्रिय, वस्तुगत और मूर्त थी। इस में कोमल और मधुर की ही नहीं, भदेस और अनगढ़ की भी अभिव्यक्ति थी। दरअसल, तत्कालीन मूल्यगत अराजकता में रोमानी सौंदर्य-दृष्टि का चित्रण वायवी न होकर मांसल और दैहिक हो गया था। प्रेम और सौंदर्य की इन परिकल्पनाओं पर फ्रायड और युंग के मनोविश्लेषण का पर्याप्त प्रभाव था। प्रयोगवादी कविता का एक पक्ष प्रेम और सौंदर्य को यौन वर्जनाओं और कुंठाओं के प्रसंग में देखने का रहा है। यह पक्ष प्रेम के जटिल स्वरूप को प्रस्तुत करता है। इस पक्ष के प्रतिनिधि कवि 'अज्ञेय' है। दूसरा पक्ष है प्रेम और सौंदर्य के ताजा और मांसल रूपों के चित्रण का। यह पक्ष अधिक ऐन्द्रिय, रागात्मक और रमान वाला है। इस पक्ष के प्रतिनिधि कवि गिरिजाकुमार माथुर है।

प्रयोगवादी कविता के शिल्प की कुछ निजी विशेषताएँ है। इस कविता का शिल्प अपनी पूर्ववर्ती काव्य धाराओं के शिल्प से थोड़ा भिन्न है। यह शिल्प न तो छायावादी कविता के शिल्प की तरह कल्पनात्मक है, न उत्तर-छायावादी कविता के शिल्प के समान आलोचनात्मक है। प्रयोगवादी शिल्प-दृष्टि, मूलतः वैयक्तिक, बौद्धिक और प्रयोगात्मक है। यह दृष्टि उक्ति वैचित्र्य और लक्षणा, व्यंजना के सौंदर्य-उद्घाटन में पर्याप्त सफल रही है।

इस प्रकार सन् १९४० से १९५० तक प्रयोगवादी कविता की व्याप्ति है। सन् '५० के बाद की कविता से नयी कविता का प्रारम्भ माना जा सकता है। कई विद्वान् प्रयोगवाद और नई कविता मे किसी प्रकार का कोई भेद मानने के पक्ष मे नही है। ये विद्वान् नई कविता को प्रयोगवाद का ही पर्याय मानते है। पर, तथ्य यह नही है। नई कविता के प्रवर्त्तन और विकास के सूत्र प्रयोगवाद मे खोजे जा सकते हैं पर इस का यह आशय नही है कि नयी कविता को प्रयोगवाद का पर्याय या छद्म रूप कहा जाए। दरअस्ल, नयी कविता को प्रयोगवाद का 'फालो ऑन' नही कहा जा सकता। ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि नयी कविता का सम्बन्ध भाव और विचार की उस जमीन से है जिसे प्रयोगवाद ने निर्मित किया था। प्रयोगवादी कवियो ने अपने समय के यथार्थ के अनुरूप जिन नवीन और विविध काव्य-प्रवृत्तियो को जन्म दिया, उन प्रवृत्तियो का नये कवियो ने अपने युग-जीवन के यथार्थ के अनुरूप रूपान्तरित करके कविता को नयी दिशाओ की ओर उन्मुख किया।

नयी कविता :
विचार और रचना में संतुलन की खोज

आधुनिकता की महत्वपूर्ण भूमिका निर्मित करने का कार्य *तार सप्तक* या प्रयोगशील कविता द्वारा सम्पन्न हुआ था। पर, आधुनिक-बोध का प्रसार और इसकी अनेकरूपा अभिव्यक्ति *दूसरा सप्तक* से (१९५१) मानी जा सकती है जिस के प्रकाशन-वर्ष से नयी कविता का भी वास्तविक प्रारम्भ माना जाना चाहिए। *नए पत्ते* (१९५३), *नयी कविता* (१९५४) और *निकष* (१९५५) पत्रिकाओं के सम्पादन द्वारा इस नयी काव्य प्रवृत्ति में आन्दोलनात्मक त्वरा आई और इस की वैचारिक पीठिका बनी। इसका विरोध भी खूब हुआ पर इससे इस काव्य-प्रवृत्ति की बलवत्ता बढ़ी और इसका स्वरूप स्पष्ट हुआ।

इतना तो साफ है कि नयी कविता की काव्य-स्थिति प्रयोगवाद के आगे की है। नयी कविता का प्रयोगवाद से सम्बन्ध तो है, खास तौर पर भाव और विचार की उस ज़मीन से जिसे प्रयोगवाद ने निर्मित किया था। पर, प्रयोगवाद से उसका मौलिक अन्तर भी है। नयी कविता प्रयोगवाद से ऐतिहासिक आधार पर ही नहीं, तात्विक और संवेदनात्मक आधार पर भी भिन्न है। नयी कविता नयी युगीन चेतना और नयी सौंदर्याभिरुचि की सूचना देती है। प्रयोगवादी कविता में प्रयोग बाह्य और शिल्पिक था जबकि नयी कविता में प्रयोग कविता के पूरे संरचनात्मक-तत्व में व्याप्त है। इसके अलावा प्रयोगवादी कवियों की जीवन-दृष्टि पर जहाँ मार्क्स और फ्रायड का सीधा प्रभाव है वहाँ नए कवियों पर यह प्रभाव उनकी मानसिकता का सहज अंग बनकर व्यक्त हुआ है। प्रयोगवादी कवियों ने

विषयगत आभिजात्य से तो मुक्ति पा ली पर उनकी दृष्टि में आभिजात्य बना रहा जो मानव-व्यक्तित्व के वैशिष्ट्य की प्रतिष्ठा के आग्रह को लेकर सामने आया। नयी कविता ने इस आग्रह को अमान्य ठहराया और व्यक्ति के निजत्व, महत्व और शक्ति को रेखांकित किया। व्यक्तित्व की खोज पर 'अज्ञेय' ने भी अपनी कविताओं में 'दे दिया गया हूं' या 'दे दिया जाता हूं' के अन्दाज में बल दिया है किन्तु नयी कविता में व्यक्ति का यह निजत्व धारणात्मक सतह को नहीं, बल्कि गहरी आन्तरिक तड़प और ताप को व्यंजित करता है। *नया कवि व्यक्तित्व की* खोज करता है और इस कीमत पर इस निजत्व को बचाए रखना चाहता है। इसी आधार पर नयी कविता में, विघटित स्थितियों के बावजूद, मानव-भविष्य के प्रति आशा और आस्था व्यक्त है।

नयी कविता की सृजन-प्रकृति पूर्ववर्ती काव्य-सृजन-प्रकृति से थोड़ी भिन्न है। रचना-प्रक्रिया के दौरान सृजन-क्षण के महत्व पर इन कवियों ने विशेष बल दिया—**'बरस पर बरस बीते एक मुक्ता रूप को पकते' ('अज्ञेय') और 'किन्तु जब मेरी छाती/कोढ़ पर अंकुर एक फूटेगा/और भोली गर्वभरी आस्था से निहारेगा/तब उस एकमात्र क्षण में।'** नए कवि ने शब्द को अपने ढंग से इस्तेमाल करना बंद किया और अपने और शब्द के बीच के व्यवधान को तोड़ दिया, क्योंकि रचना-प्रक्रिया में दोनों अलग अलग नहीं, एक रूप हैं :

> कहते हैं हम सिर्फ अपने ही हक में
> बरतना बंद करो, हमें फैलाओ
> जैसे किसान फैलाता है बीजों को, ठहरकर सोचना पड़ता मुझे
> शब्दों की नयी तरह, परियों की, तमीज़ों की
> यानी अब मैं और मेरे शब्द, अलग अलग नहीं हैं, एक हैं।
>
> **(भवानीप्रसाद मिश्र, नयी कविता : २)**

नयी कविता पर विचार करते हुए आधुनिकता पर विचार करना बहुत जरूरी है। आधुनिकता पर काफी चर्चा हुई है किन्तु इस की कोई स्पष्ट धारणा उभर कर सामने नहीं आई है। आधुनिकता के स्वरूप के गड्ड-मड्ड हो जाने का एक मुख्य कारण यह रहा है कि आधुनिकता को 'आधुनिकतावाद' के रूप में, प्रायः, देखा-परखा गया है जब कि ऐसा है नहीं। आधुनिकता ऐतिहासिक परिणति नहीं है इतिहास के एक खास बिन्दु से शुरू हुई प्रक्रिया है जो निरन्तर अपनी आन्तरिकता को विभिन्न स्तरों पर व्यक्त कर रही है। यह खास बिन्दु है विज्ञान का उदय जिसने परम्परागत आस्थाओं और मूल्यों के आगे प्रश्न चिह्न लगाया है और मानव-विवेक की आधुनिक धारणा को जन्म दिया है— 'आधुनिक' इस अर्थ में कि यह धर्म एवं अध्यात्म-निर्भर तथा भाग्यवादी तथा मध्यकालीन बोध से अपनी मूल प्रकृति में भिन्न है। चूंकि यह विवेक विज्ञान सम्मत एवं बौद्धिक है इसने आधुनिक व्यक्ति

की मानसिकता में बुनियादी अन्तर आया है। इस विवेक से नयी दृष्टि और नयी सौंदर्य चेतना का प्रादुर्भाव हुआ है जिसे मूल्य स्तर पर, व्यक्ति की सक्रान्त-चेतना के स्तर पर यथार्थ चित्रण के स्तर पर, मानवीय अस्तित्व संकट के स्तर पर, शैली शिल्प के स्तर पर देखा जा सकता है। नयी कविता में आधुनिकता का प्रस्फुटन इन सभी स्तरों पर समवेत हुआ है।

नए कवि ने काव्य-सम्बन्धी सैद्धान्तिक रूढ़ियों को तोड़ कर कविता को नए रूप में परिकल्पित किया। यह आधुनिकता की व्यापक चेतना और नए सौंदर्य बोध के प्रसार का परिणाम था। वास्तव में नयी कविता में आधुनिकता सारी धारणा के रूप में नहीं है। इस का प्रतिफलन इस कविता में व्यक्ति और समाज के ठोस सन्दर्भों में हुआ है। जीवन की नयी तथा जटिल वास्तविकता को अभिव्यक्ति देने के प्रयास में *यह कविता रची गई है। कविता को विचार में और विचार को कविता में संयुक्त* करने का प्रयास नयी कविता के लिए एक चुनौती बनी है। विचार और रचना में सन्तुलन की खोज इस कविता में इसी सिलसिले में हुई है।

नया कवि पुराने और परम्परागत मूल्यों को अपने लिए नितांत अप्रासंगिक पाता है। विज्ञान सम्पन्न विवेक दृष्टि के कारण उसे सभी परम्परागत मान्यताएँ और मूल्य, बदले हुए परिवेश में, निरर्थक लगते हैं। वह हर मूल्य और मान्यता के आगे प्रश्न लगाता है और उसे अपने विवेक की कसौटी पर कसता है। नयी कविता में शायद पहली बार मूल्यों की तानाशाही को चुनौती दी गयी है। नयी कविता के लिए मूल्य न सनातन है न अन्तिम और न निरपेक्ष। नयी कविता में मोह-भंग के चिन्तन का प्रारम्भ यहीं से है। यह चिन्तन परम्परागत मूल्य-व्यवस्था को नकारता हुआ भी मूल्य स्तर पर सक्रान्त है क्योंकि यह मानव-मूल्यों की वांछा की सापेक्षता में है। कुछ उदाहरण लेकर बात को स्पष्ट किया जा सकता है। धर्मवीर भारती की ये पंक्तियाँ लें

> लेकिन इन दोनों के बीच
> मेरे तीखे पर एकाकी स्वर
> केवल सच्चाई का आश्रय लेकर
> गूँजेंगे या रव में खो जायेंगे
> या ये स्वर पहुँचेंगे जन जन के द्वार
> लज्जित माथे पर काटों का शृंगार
> या मगन वादन, जय ध्वनि वन्दनवार
> क्या पाएंगे
> प्रभु
> हम क्या पाएंगे
> कुंठित विघटित

(सात गीत वर्ष, पृ० ३४)

यह मूल्यगत अनिश्चय की स्थिति है जो अवमूल्यन से पैदा हुई है पर इस में मानव मूल्यों से सम्पृक्त होने की तीव्र आकांक्षा ही नहीं, छटपटाहट भी है। विघटित-स्थितियों में पड़ा हुआ मनुष्य टूट रहा है :

अब हर चीज पत्थर की तरह कठोर
यथार्थ या यथार्थ की तरह कटी हुई
मेल नहीं
जिस में दशानन बर्बरता से टकराता
मैं मनुष्य मात्र
टूट रहा—

(कुँवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० ८७)

मूल्यगत अनिश्चय की स्थिति में पड़ा हुआ और टूट रहा व्यक्ति मूल्यों के प्रति निष्ठावान है। यह टूट रहा सामान्य आदमी कहीं सार्थक होना चाहता है, वृहत्तर सन्दर्भों से जुड़ना चाहता है। गिरिजाकुमार माथुर की कामना है कि—**मन के विश्वास का यह सोनचक्र रुके नहीं, मन में सपने फाँस गड़ कर भी दुखे नहीं, और जीवन की पियरी केसर कभी चुके नहीं। (सूरज का पहिया—शिलापंख चमकीले)** कवि मानव-भविष्य के प्रति निष्ठावान् है। उनकी कविता **लोह मकड़ी का जाल** की मुक्ति की चीख '**मुझे निकाल लो ओ जीवन देवता, खंड खंड होने से पहले उबार लो**', गहरे संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त है। नया कवि भीतर से पीड़ित और खंडित है और समग्र मानवता के प्रति उस के स्वर में आशा और आस्था व्यक्त हुई है। मुक्तिबोध की सम्पूर्ण चेतना के रक्त-प्लावित स्वर में विश्वास है

[illegible] चलता का रक्त-प्लावित स्वर,
हमारे ही हृदय का गुप्त स्वर्णाक्षर
प्रकट हो कर विकट हो जायगा।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० ३)

विजयदेव नारायण साही की कविता में मुक्ति प्यासी अस्थियों की चीख, अकुलाहट और यातना की अभिव्यक्ति है

और कब तक धमनियों के बन्ध में
धारे रहूँ
यह दर्द की देवापगा ?
और कब तक मुक्ति प्यासी
अस्थियों की चीख
भी सुनता रहूँ ?
खोल दो, मेरी शिराएँ खोल दो,
तोड़ दो मेरी पसलियाँ तोड़ दो,
बहो, बहो

फूट करके बहो
मेरे दर्द की देवापगा।

(तीसरा सप्तक, पृ० १९८)

मानव-भविष्य के प्रति निष्ठा का भाव केदारनाथसिंह की कविताओं में भी है। उसे एहसास है कि आज वह कुछ भी नहीं है और उसे विश्वास है कि कल वह अवश्य आयेगा :

कल उगूंगा मैं
आज तो कुछ भी नहीं हूँ
पेड़, पत्ती, फूल, चिड़िया, घास, फुनगी
आह, कुछ भी तो नहीं हूँ
कल उगूंगा मैं

× ×

एक नन्हा बीज मैं अज्ञात नवयुग का
आह, कितना कुछ
सभी कुछ
न जाने क्या क्या
समूचा विश्व होना चाहता हूँ
भोर से पहले तुम्हारे द्वार पर
तुम मुझे देखो न देखो
कल उगूंगा मैं। (तीसरा सप्तक, पृ० २४२)

रामदरश मिश्र ने भी भविष्य के प्रति यही आस्था व्यक्त की है

मैं यह सब देख रहा हूँ
ओ शरद की स्वच्छ धरती पर
मैली छांह उगलने वाले
असमय खूसट दम्भी बादल
तुम्हें क्या पता कि
स्कूल जाते हुए छोटे-छोटे बच्चों की तरह
किरणों का एक झुंड
तुम्हें वर्षों से तोड़ रहा है।

(बैरंग बनाम चिट्ठियाँ, पृ० ६)

हरि नारायण व्यास की कविताओं का मूल स्वर भी मानव-भविष्य के प्रति आस्था का है :

इस अंधेरे की पुरानी ओढ़नी को वेध कर
आ रही ऊपर नए युग की किरण

(तीसरा सप्तक, पृ० ६३)

इसी प्रकार कीर्ति चौधरी की कविताओं में भी भविष्य की सारभरी प्रतीक्षा है जो बड़े गाभिन गन्धयुक्त गुच्छों सा' आयेगा।

नया कवि जहाँ नए मूल्यों की खोज करता है और मानव-भविष्य के प्रति नया विश्वास और आस्था रेकर चलता है, वहीं वह व्यक्तित्व की निजता की खोज भी करता है। व्यक्तित्व की खोज 'अज्ञेय' की कविताओं में जहाँ धारणात्मक सतह पर है, नई कविता में वह आन्तरिक तड़प और ताप को व्यंजित करती है। इसे वैयक्तिकता और सामाजिकता का सामंजस्य या द्वंद्व कहना उचित प्रतीत नहीं होता :

> एक आदमी दो पहाड़ों को कुहनियों से ठेलता
> पूरब से पच्छिम को एक कदम से नापता
> बढ़ रहा है
> कितनी ऊंची घासें चांद तारों को छूने-छूने को हैं
> जिन से घुटनों को निकालता वह बढ़ रहा है
> अपने शाप को सुबह से मिलाता हुआ
> फिर क्यों
> दो बादलों के तार उसे महज उलझा रहे हैं

(शमशेरबहादुर सिंह, कुछ और कवितायें, पृ० ७)

नयी कविता विघटन और पराजय में से मानव के निजत्व या स्वत्व की पहचान कराने वाली कविता है।

नयी कविता की नयी पीढ़ी में व्यक्ति की अन्तरात्मा से जुड़ी हुई यह यातना और भी अधिक प्रखर है। विपिन अग्रवाल की ये पंक्तियाँ :

> मुझे भी अपने अन्दर के सर्गोल में
> ढूंढना पड़ेगा
> मुक्ति का क्षण।
> सोचना पड़ेगा
> कितना बाहर आ गया हूँ
> बढ़े हुए दायरे से
> कितनी लम्बी कर अपनी ही परछाईं।

व्यक्ति के स्वत्व की पहचान और व्यक्तित्व की खोज के कारण नयी कविता में अस्तित्ववादी दर्शन तो नहीं, पर अस्तित्व के प्रश्नों से टकराने वाला दर्शन अवश्य है। 'मुक्तिबोध' में यह दर्शन अपने विशिष्ट रूप में लक्षित किया जा सकता है :

> लाखों वर्ष काँटों ने अचानक काट खाया है
> व्रणाहत पैर को ले कर
> भयानक नाचता हूँ
> शून्य मन के टीन छत पर गर्म।

(चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० १४६)

नये कवि को लगता है हर मूल्य और सन्देश अपना अर्थ खो चुका है और वह ऐसी जगह आ गया है जहाँ अपरिचितो की भीड है (विपिन कुमार अग्रवाल) या फिर 'शोर के बीच एक गूँज है—नगी और बेलौस जिसे वह दे दिया गया है।' (रघुवीर सहाय) और कुँवर नारायण को लगता है **'ये सब केवल इन्तजार की बेबस घडियाँ हैं। मुझे किसी अन्तिम घटना की ओर घसीटती हुई, छोटी-छोटी घटनाओं की मजबूत कडियाँ हैं, इस प्रतीक्षागृह मे लगा एक और कमरा है जिस मे एक अजनबी है, या जो शायद एक दूसरे से, ढके हुए अनेक अजनबियो से भरा है।'** इन कविताओ मे अस्तित्व की चाल मान्यताओ का चुस्त बयान है। उनका तल्ख एहसास नही। इन मे मुक्तिबोध की कविताओ के समान आन्तरिक अनुभूति का ताप नही है। कैलाश वाजपेयी की कविताएँ भी अस्तित्वगत धारणाओ की रेह टरिक के सहारे बयानबाजी हैं। यहाँ विचार धारणाओ के रूप म उपस्थित हैं और कविता नही बनन देत।

नयी कविता म व्यक्ति के स्वत्व और अस्तित्व बोध के प्रश्न को मामूली आदमी की सवेदना के स्तर पर आका गया है। इसे लघु मानव या लघुता का दर्शन कह सकते है। इस म साधारण व्यक्ति के भोग हुए यथार्थ की प्रतिष्ठा है, जीवन की साधारणता का महत्त्व है, लघुता का स्वीकार है और आभिजात्य का अस्वीकार। नयी कविता मे क्षण की महत्ता और लघु-मानव की प्रतिष्ठा जीवन के प्रति गहन सम्पृक्ति और अस्वीकार के भाव से प्रेरित है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता मे, जो नयी कविता मे लघु मानव के व्याख्याता हैं, 'लघुता के प्रति गहरा लगाव है

> हम
> जो भोगते हैं हर स्थिति असहाय से, निरुपाय से
> झेलते हैं हर परिस्थिति दीन, व्याकुल अनिवार्य से
> और वह
> जो हमारी पीडा मे, सशय मे, शका मे
> बनाता है हम विक्षिप्त, तरल, फनिल उच्छ्वास
> हम है उन के भोग्यार्थ नही,
> क्योकि असहायता, निरुपायता, अनिवार्यता
> सशय, शका, विक्षिप्तता की व्याकुलता
> वह केवल मेरा नही
> उस म वे सब है
> जो मेरे ही समानधर्मा है

(अतुकान्त, पृ० ८-९)

वे लघुता का एक मूल्य के रूप मे कथन करते है जो विचार तो देता है पर रचना नही बन पाता।

कीर्ति चौधरी की कविता 'प्रस्तुत' मे अभिजात के विरुद्ध लघुता का स्वीकार बडी बेबाकी से किया गया है .

मेरे गीतो, मेरी बातो मे यहाँ वहाँ
जो जिक्र असाधारणता के हैं दिख जाते,
वे सभी गलत ।
सारा जीवन मेरा साधारण ही बीता ।
हर सुबह उठा तो काम काज दफ्तर फाइल ।
झिडकी—फटकारें, वही वही कहना-सहना ।
मैंने कोई भी बडा दर्द तो सहा नही ।
कुछ क्षण भी मुझ सग बहुत हर्ष तो रहा नही ।
जो दृढता-दर्प पक्तियो मे मैंने बाधा,
वह मुझ मे क्या
मेरी अगली पीढी मे भी सम्भाव्य नही ।

(तीसरा सप्तक, पृ० ९७)

यहाँ विचार कविता पर लदा या मढा नही लगता बल्कि सामान्य जीवन-व्यवहारो-सहित रचना को चरितार्थता प्रदान करता है ।

नयी कविता की यथार्थ-दृष्टि लघुता और लघु-मानव के इस दर्शन पर ही आधारित है । यह दृष्टि यथार्थ को जीवन की वास्तविक स्थितियो के सदर्भ मे ग्रहण करती है, उस पर किसी सिद्धान्त का मुलम्मा नही चढाती । इस मे न फ्रायड का आग्रह है और न मार्क्स का । इसका अन्दाज रूढ यथार्थवादी न हो कर यथार्थ की भ्रान्तरिकता को उघाडने वाला है । यह हमारे परिवेश का जीता-जागता यथार्थ है । यह यथार्थ शहर का भी है और गाँव का भी, सामाजिक-आर्थिक विषमता का भी है और राजनीतिक व्यवस्था म पिस रहे आदमी का भी । मदन वात्स्यायन की कविता इस यथार्थ को गहरे सवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त करती है । यह सवेदना भावना से नही, विचार से प्रेरित है और रचना में प्रतिफलित हुई है :

ओ मेरे अफसर
तुम्हारी एक लाइन ने मेरे जीवन की कविता को निरर्थ कर दिया
बीच जिन्दगी म मैं एकाएक विधवा हो गया
हसरत-भरी निगाहो से मैं उस क्षितिज को देख रहा हूँ जहा
अब मेरा चाँद नही उगेगा,
मैं वह पौधा हूँ जिसकी जड भीगुर ने काट दी, इस मे अब
फूल नही खिलेंगे ।

(तीसरा सप्तक, पृ० १७२)

नयी कविता मे यथार्थ को व्यग्य के माध्यम से भी उभारने की कोशिश की गयी है । भवानीप्रसाद मिश्र की कविता मे व्यग्य भाषा के सरल और सीधे मुहावरे द्वारा जबरदस्त चोट करता है :

> ग्राप बडे चिन्तित हैं मेरे पिछडेपन के मारे
> ग्राप चाहते हैं कि सीखता यह भी ढग हमारे
> मैं उतारना नही चाहता जाहिल ग्रपने बाने
> धोनी कुरता बहुत ज़ोर से लिपटाये हू याने ।

(नयी कविता १)

यथार्थ के प्रति इस नयी दृष्टि ने प्रेम ग्रौर रोमान की धारणा ग्रौर सन्दर्भ बदल दिए है। गिरिजाकुमार माथुर ग्रौर धर्मवीर भारती की कविताग्रो मे प्रेम का स्वरूप मासल ग्रौर यथार्थपरक है। नए कवियो म प्रेम ग्रौर रोमान के प्रति कोई कुठा नहीं है। वे उसे खुले रूप मे स्वीकारते है। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की कविता—'**ग्रह से मेरे बडी हो तुम**' ग्रौर विजय देव नारायण साही की कविताग्रो '**दोपहर : नदी-स्नान** (निकष-१) ग्रौर 'विपक्षन्या के नाम' (तार सप्तक, पृ० ३३४) मे बदले हुए प्रेम-सम्बन्ध को लक्षित किया जा सकता है।

नयी कविता की वस्तु ग्रौर सवेदना ही नही, उस का शिल्प भी नया है। वस्तु ग्रौर शिल्प नयी कविता मे ग्रन्त सग्रन्थित है। पुरानी ग्रौर रूढ शिल्प-दृष्टि को इस म नकारा गया है। नयी ग्राधुनिक-दृष्टि से पुराने रूढ उपमानो ग्रौर प्रतीको का मेल बैठना ही नही। इस सम्बन्ध मे 'ग्रज्ञेय' की यह उक्ति ग्रत्यन्त सार्थक है :

> ग्रगर मैं तुम को
> ललानी साझ के नभ की ग्रकेली तारिका
> ग्रब नही कहता''',
> नही कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है
> बल्कि केवल यही, यह उपमान मैले हो गए हैं
> देवता इन प्रतीको के कर गए हैं कूच
> कभी बासन ग्रधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।

(पूर्वा, पृ० २४४)

नए कवि ने ऐसे प्रतीको, बिम्बो ग्रौर उपमानो को छोड दिया, ग्रधिक घिस जाने से जिन का मुलम्मा छूट गया था। नयी कविता मे प्रयुक्त प्रतीक, बिम्ब ग्रौर उपमान नयी जीवन दृष्टि ग्रौर नये सौन्दर्य-बोध के सूचक हैं। नयी कविता मे एक ही 'प्रतीक' किस प्रकार नये-नये ग्रर्थों मे सक्रमित होता गया है, इस के लिए दो उदाहरण लिए जा सकते हैं :

> मैं
> रथ का टूटा हुग्रा पहिया हूँ,
> लेकिन मुझे फेंको मत
> क्या जाने कब
> इस दुरूह चक्रव्यूह मे

अक्षौहिणी-सेनाओं को चुनौती देता हुआ
कोई दुस्साहसी अभिमन्यु आ कर घिर जाये
(धर्मवीर भारती, सात गीत वर्ष, पृ० ७९)

× ×

इस महा जीवन समर में अन्त तक कटिबद्ध
मेरे ही लिए यह युद्ध मेरा,
मुझे हर आघात सहना,
गर्भ-निश्चित मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध।
(कुंवर नारायण, चक्रव्यूह, पृ० १०३)

एक तुच्छ उपकरण—रथ का टूटा हुआ पहिया—दुरूह चक्रव्यूह में अभिमन्यु के लिए बलशाली साधन सिद्ध हुआ था। कवि कहता है कि वह ऐसा ही एक तुच्छ उपकरण—रथ का टूटा हुआ पहिया—है जिस में अपरिमित शक्ति है, तथा, जिस की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यही अभिमन्यु के हाथों में ब्रह्मास्त्रों से लोहा ले सकता है। 'टूटा हुआ पहिया', यहां तुच्छ समझे जाने वाली वस्तु या व्यक्ति की आन्तरिक शक्ति का प्रतीक है जो न्याय और अत्याचार के विरुद्ध अचूक साधन है। दूसरे उदाहरण में 'अभिमन्यु' आधुनिक व्यक्ति-मन का प्रतीक है—पीड़ित और विभक्त। उस पर हर प्रकार के आघात पड़ रहे हैं और यह कहना कठिन है कि अन्ततः वह इस युद्ध घेरे को तोड़ सकने में सफल होगा या नहीं। पहले उदाहरण में *'टूटा हुआ पहिया'* मूल्यगत संक्रमण में पड़े व्यक्ति के अकेलेपन तथा निहत्थेपन के साथ-साथ उस के दायित्व-बोध को व्यंजित करने वाला प्रतीक है। दूसरे उदाहरण में *'युद्ध-घेरा'* और *'नया अभिमन्यु'* मानसिक दुश्चक्र और उससे बाहर निकलने की तत्परता के प्रतीक हैं।

नयी कविता के प्रतीक और बिम्ब आधुनिक व्यक्ति की अक्रान्त मन स्थिति से सम्बद्ध हैं। मुक्तिबोध की ये पंक्तियां इस मन स्थिति को प्रतीकात्मक बिम्ब के सहारे व्यक्त करती हैं

अधूरी और सतही जिन्दगी के गर्म रास्तों पर
अचानक सनसनी भौचक
कि पैरों के तलों को काट खाती कौन सी यह आग ?
जिस से नच रहा हूँ
खड़ा भी हो नहीं सकता, न चल सकता।
(मुक्तिबोध, चाँद का मुंह टेढ़ा है, पृ० १४९)

शीत-ताप सम्बन्धी यह बिम्ब (Thermal Image) महज एक शिल्प-साधन के रूप में यहां इस्तेमाल नहीं हुआ बल्कि इससे आधुनिक व्यक्ति का त्रासदायी अनुभव उजागर हुआ है। इसी ढंग का बिम्ब निम्नलिखित पंक्तियों में भी है :

इस गली के छोर पर बुनियाद डालो
कोठरी में दीप की लौ
सेंकती ठंडा अंधेरा
इन्ही पर्तों मे कही सोया हुआ है
रूप का गोरा सवेरा

(कुंवरनारायण, चक्रव्यूह, पृ० ३१)

नयी कविता की शिल्प दृष्टि इस कविता के विचार-पक्ष और अनुभूति पक्ष से अनिवार्यत, जुड़ी हुई है। इस मे काव्यगत विचार और अनुभूति के समानान्तर प्रतीक और बिम्ब की रचना हुई है। काव्य शिल्प म इन कवियो की बुनियादी निष्ठा है गो इन कवियो ने 'शिल्प' को काव्य-कौशल या युक्ति के रूप मे कम ही ग्रहण किया है। इस म विचार, अनुभूति और शिल्प मे एक रचनात्मक सतुलन बैठाने की कोशिश झलकती है।

नयी कविता ने कविता की चली आ रही रूढियो और परम्पराओ को बहुत जोर से झकझोरा और जीवन-दृष्टि और सौंदर्य-बोध के आधार पर कविता की नयी परिकल्पना की। पर सन्' ६० तक आते-आते नयी कविता भी शिल्प और कथ्य की दृष्टि से रूढ हो गयी। उपमानो, प्रतीको तथा बिम्बो की पुनरावृत्ति ही नही हुई, भाव और विचार की अभिव्यक्ति का भी एक ढर्रा बन गया और सवेदना बने-बनाये साचों मे फिट हो गयी। अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह करके नयी कविता, कविता को नए और अधिक समर्थ हाथो मे सौंप चुकी है।

समकालीन कविता :
मानव-नियति या आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति

समकालीन कवि अपनी कविता के संबंध में जब यह कहता है 'यह वह कविता नहीं है / यह केवल खून-सनी चमड़ी उतार लेने की तरह है / यह केवल रस नहीं / ज़हर है ज़हर' (दूधनाथ सिंह), तो वह कविता संबंधी परम्परागत धारणा के विरुद्ध नयी धारणा में अपना विश्वास व्यक्त करता है। यह वह कविता तो निश्चय ही नहीं है जिसका परम्परा से मान्य एवं स्वरूप हो। उस स्वरूप की प्रासंगिकता आज लुप्त हो गयी प्रतीत होती है। परम्परागत अर्थ में 'कविता स्थगित हो गयी है / किट-किटाते दाँतों के बीच/मेरे वक्तव्य / बेवकूफ की तरह / मुझ पर हँस रहे हैं' (चन्द्रकांत देवताले)। इसे आज के कवि का प्रलाप मात्र या उसका अराजक तेवर कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। इसकी एक अनिवार्य संगति उस भयावह और क्रूर परिवेश से है जहाँ कविता सार्थक हो पाने के लिए चीखती है या स्तब्ध हो जाती है, जहाँ चीज़ों के रंग और आकार एक दूसरे में घुल-मिट जाते हैं और उनकी पहचान खो जाती है : 'हवा हो जाता है इतिहास रचना / घोषित चीज़ों की भाषा में / बेजनो भीतें सात फूलों के किस्मों की पहचानें सारी उलट-पुलट जाती हैं / रोता है देवता भुरदार आयुधों के नाम / जरूरी हो जाती है तब कविता एक और किस्म की' (कमलेश)। आज के मनुष्य की स्थिति और नियति की पहचान के सिलसिले में और परिवेशगत दबावों और निरन्तर जटिल होते जाते अनुभवों के फलस्वरूप मानवीय स्तर में एक और किस्म की कविता-धारणा संभव हो सकी।

सन्'६० के बाद की कविता कवियों की दृष्टि में (धारणात्मक सतह पर) ही नहीं, अपने पूरे रचनात्मक विधान में बदली है। समकालीन कवियों की काव्य-सम्बन्धी धारणाएँ कविता और कवि-कर्म की आन्तरिकता में घटित होने वाले मौलिक बदलाव से विच्छिन्न नहीं, बल्कि उसी का प्रतिफल हैं। कविता की आन्तरिकता में घटित होने वाला मौलिक बदलाव का स्तर है कविता का समकालीन मनुष्य की स्थिति और नियति से जुड़ते जाना, उसकी पहचान करना, उससे गहरे आत्मिक स्तरों पर जूझना और उस मानवीय यातना का बोध कराना जो उसके हिस्से की है। स्पष्ट है कि यह कोई सीधा सरल अनुभव नहीं है जिसकी आसानी से कोई व्याख्या या परिभाषा दी जा सके। यह अनुभव अपनी प्रकृति में गहन और सश्लिष्ट, जटिल और परतों-आवर्त्तों में लिपटा हुआ है। इसके साथ व्यक्ति और समाज तथा इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के कई प्रश्न जुड़े हुए हैं। ऐसे अनुभव की अभिव्यक्ति सीधी और आसान नहीं हो सकती। साधारण औसत ढंग की स्थितियों के चित्रण या वर्णन से या उनका सरलीकरण कर देने से यह सभव नहीं है।

सातवें दशक का कवि मानव-स्थिति की समझ और पहचान की ओर अधिकाधिक उन्मुख होता गया है। इसे समझने और पहचानने के लिए वह किन्हीं रूढ या सुनिश्चित विचार-सरणियों के बल पर प्रवृत्त नहीं हुआ है। किसी वाद या सिद्धांत का भी वह अनुवर्ती नहीं बना है। यह समझ और पहचान कहीं वैयक्तिक धुरी पर टिकी है तो कहीं सामाजिक धरातल पर। पर, अधिकतर हुआ यह है कि बाह्य यथार्थ इस तरह भीतर स्थानान्तरित हुआ है और भीतरी सच्चाई बाहरी आसगों प्रसगों से इस कदर लिपटती चली गयी है कि बाह्य और भीतर में, वैयक्तिक और सामाजिक परिदृश्यों में कोई विभाजन-रेखा खींचना कठिन हो गया है।

सातवें दशक की कविता में भाषा और सवेदना के स्तरों पर एक तनावपूर्ण मुहावरा उभरा है। यह व्यक्ति और समाज के बदले हुए रिश्ते के कारण भी है और आधुनिक व्यक्ति के आत्म-सघर्ष से उत्पन्न द्वद्वात्मक मन स्थितियों के कारण भी। पर, कई जगह यह तनावपूर्ण मुहावरा अभिव्यक्तिगत सयम के अभाव का भी सूचक बन गया है जिससे तनाव की अभिव्यक्ति सर्जनात्मक रूप ले ही नहीं पाती। इससे तनाव महज एक मुद्रा बन कर रह गया है: 'एक नई नस रोज तनना शुरू करती है / और टूटने तक बढ़ती चली जाती है' / आदमी-आदमी के बीच एक कब्र है / और यह कब्र बढ़ती चली जाती है' (कैलाश वाजपेयी)।

इन पक्तियों की 'टोन' में जो 'रेट्टरिक' और बयानबाजी है, इससे किसी भी मानव स्थिति का बोध नहीं जगता। कैलाश वाजपेयी की 'स्नायुघात' कविता हो या 'देश एक शोकगीत' या 'आगामी भूतवाणी' इनके माध्यम से कोई मानव-स्थिति उजागर नहीं होती, केवल कवि की उस प्रवृत्ति का पता चलता है जिससे वह स्थितियों को सवेदनात्मक स्तरों पर ग्रहण न करके उनके प्रति शाब्दिक प्रतिक्रिया या स्नायविक उत्तेजना का मुहावरा अख्तियार कर रहा है। इसी मुहावरे का

शिकार हो जाने के कारण जगदीश चतुर्वेदी की भी अनेक कविताएँ तनावहीन शाब्दिक तनाव में बिफर कर रह गयी हैं और इनमें आज के मनुष्य की हालत और नियति का प्रामाणिक और पैना एहसास नहीं जग पाता। श्रीकांत वर्मा आज के मनुष्य की हालत को अपनी कविताओं में चित्रित तो करते हैं, पर यह है चित्रण की हद तक ही। वे स्थितियों का हलचलभरा, उद्विग्न बना देने वाला तल्ख बोध नहीं करा पाते 'एक आदमी दूसरे का और दूसरा तीसरे का दहेज है / जिसकी वाणी में आज तेज है / दस साल बाद / वह इस तरह लौट आता है / जैसे किसी वेश्या के कोठे से / अपने को बुझा कर।' यह उत्तेजक मुहावरा राजकमल चौधरी के काव्य में भी है, पर वे इस मुहावरे का मानव स्थितियों की पहचान के सिलसिले में अन्वेषित करते हैं और उसे ज्यादा से ज्यादा सर्जनात्मक बनाते हैं। उनकी लम्बी कविता 'मुक्ति प्रसंग' समूचे बाह्य यथार्थ का आन्तरिक स्तरों पर सृजित करने की कोशिश करती है। इस कोशिश में राजकमल कई बार लड़खड़ाये हैं, पर उनका प्रयत्न लगातार यही रहा है कि वे बाहरी स्थितियों के दबाव में जकड़ी हुई अपनी अन्तरंग सचाई का अभिव्यक्त कर सकें 'क्यों एक ही युद्ध मेरी कमर की हड्डियों में और कभी वियतनाम में / होता है।' यह बाह्य परिवेश का भीतरी सन्दर्भ देकर वैयक्तिक धरातल पर सृजित करने की प्रक्रिया है / मैं इतिहास-पुस्तक की तरह खुला पड़ा हूँ। लेकिन मेरा देश मेरा पेट मेरा ब्लाडर मेरी अंतड़ियाँ खुलने से पहले / सर्जनों को यह जान लेना होगा / हर जगह नहीं है जल अथवा रक्त अथवा मांस / अथवा मिट्टी / केवल हवा कीड़े जख्म और गन्दे पनाले हैं अधिक स्थानों पर इस देश में / जहाँ सड़कर फट गयी है नसें वहाँ वहाँ तक नहीं / ऊपर की त्वचा चीरने पर आग नहीं निकलेगी न ही धुंआ / जठराग्नि दावानल'' सब बुझ गये अचानक पहले पन्द्रह अगस्त की पहली रात के बाद / अब राख ही राख बच गया है पीला मवाद।' 'इस गतिहीन वर्तमान, में', अपने 'होने के बावजूद न हो पाने की विडम्बना का यातनापूर्ण एहसास कवि को है। यह स्थिति या नियति का मात्र बयान नहीं कविता में आज के आदमी की स्थिति या नियति का चरितार्थ होना है।

इधर की कविता में सामान्यीकरण या सामान्य बिम्ब के अमूर्तिकरण की प्रवृत्ति अधिक बढ़ी है। काव्य रचना की यह एक खतरनाक प्रवृत्ति है। इससे रचना अपने स्तर से गिरकर वाग्स्फीति में बदल जाती है। अमूर्तिकरण के माध्यम से भीतरी जटिल और अराजक स्थिति को पकड़ पाने में तभी सहायता मिल सकती है अगर इसका आधार कोई विशिष्ट अनुभूति या स्थिति हो। चालू बिम्ब का अमूर्तिकरण कविता के स्तर को गिराना ही है, उठाना नहीं 'पता नहीं मुझसे क्या गलती हो गयी है / आजादी के बाद / देश भक्ति / मेरे कन्धे से सिर टिका कर सो गयी है या 'जिस' पर कोई नहीं खाना चाहता / आजादी एक जूठी थाली है' (लीलाधर जगूड़ी)। स्थितियों के इन सामान्यीकरणों की वजह से ये कविताएँ अपना कोई विशिष्ट चरित्र नहीं बना सकी हैं। लीलाधर जगूड़ी के काव्य में ऐसे

स्थल कम ही है जहाँ वे सामान्यीकरणों को स्थितिगत विसगति या विडम्बना से जोड सके हो। सौमित्र मोहन अपनी लम्बी कविता 'लुकमान अली' में ऐसा करने मे सफल हुए हैं। मानव-स्थिति के विसगतिपूर्ण एहसास के माध्यम से इस कविता के सामान्य और अमूर्त कथन भी विशिष्ट और चमत्कृत हो उठे हैं। **लुकमान अली वहाँ से शुरू करता है जहाँ कुछ भी होना रुक गया है।' × × ×'लुकमान अली** *किसी भी चीज को नहीं बदल सकता / अपने को भी / नहीं* **। वह सिर्फ इन्तजार कर रहा है। वह 'इतजार की व्यर्थता' के मुहावरे / को जानता है / वह काँच को फुलाकर उससे / एक सैनिक बना रहा है। वह उसे चुटकुले सुनाएगा और खुद ही से हँसता / हुआ दरवाजों से नाडे निकालने लगेगा / वह बाहर लुकमान अली है और भीतर अन्धा तहखाना।** यह कविता आज के मनुष्य की यातना का बोध तो कराती है, पर मानव-नियति की *कवि-धारणा कुछ ऐसी है जो न कोई विकल्प छोड़ती है और न कोई रास्ता देती है।* चन्द्रकात देवताल *स्थितियो के मात्र चित्रण* से या उनके सामान्यीकरण से काफी हद तक बचे रहे हैं। उन्होने इन स्थितियो को अस्तित्वगत प्रश्न के रूप मे उठाया है **मरने की स्वतन्त्रता बहुत पीछे छोडकर/ नवेल सोचता है अस्तित्व का / और फिर बदहवास साँस खींचता है, मरने को मरने से पहले रिहर्सल मृत्यु की।'** प्रमोद सिनहा ने अपनी लम्बी कविता 'तलघर' मे आज की नाटकीय स्थिति को बडी बेबाकी से चित्रित किया है **'उनका क्या होगा, जो'' /केवल देख सकते हैं / हाथ की वसीयत नहीं रखते / सिवा अवाक् रह जाने के अपने घर जाने के रास्ते भी नहीं मिलते / क्या उन्हें पूछने की असमर्थता मे केवल चलते चले जाना होगा / सामने—केवल सामने, जहाँ कुछ भी नहीं दीखता'''।'** इन कवियो की मानव-नियति सम्बन्धी धारणा कहीं-कहीं उस चरमता को छूती है जहाँ मनुष्य की सकल्प-चेतना या मनुष्य के नाते सार्थक हो पाने की उसकी कोशिश या सभावना का कोई अर्थ नहीं रह जाता। ये कविताएँ आत्म-सघर्ष की विकट स्थिति का बोध जगाने की अपेक्षा अँधे गुफा या अँधी गली का एहसास अधिक कराती हैं।

मानव-नियति के प्रश्न को ठोस सामाजिक स्थितियों और मनुष्य की सकल्प-चेतना से सयुक्त करके अभिव्यक्त करने के प्रयत्न इधर की कविता मे हुए हैं। इनमे यथास्थिति का स्वीकार-मात्र नहीं, बल्कि स्थितियो के प्रति व्यग्य का, गहरी छटपटाहट का और विद्रोह या आक्रोश का भाव है। अक्सर हुआ यह है कि विद्रोह आक्रोश और सामाजिक परिवर्तन लाने का आह्वान बडबोलेपन मे तब्दील होता *गया है जिसका मूल्य रचना को चुकाना पड़ा है* **'बाँस के झुकने को मैं क्षमा नहीं कर सकता 'मुझमे नहीं उगेगा बाँस / कक्ड मे फोडूगा दूर पड़े रस के गिलास / काँटे से बेधूगा फलों की त्वचा / कीचड या तारकोल को मुट्ठियों मे फेंकूँगा / नगे शरीर की अपराधी तोंदों व गालों पर'** (श्याम विमल)। यथास्थिति को बदलने के लिए यहाँ जिस शब्दावली का प्रयोग किया गया है, उसे देखते हुए आक्रामकता और

भावुकता में फर्क करना कठिन है। 'अभी और ज्यादा नये इन्सान की जुबान से/सच्ची कविता निकलने की दिशा में/कोशिशें होंगी' (विजेन्द्र)। इस सद्भावना का तभी कोई मूल्य है यदि यह रचना की आन्तरिकता का हिस्सा बने और उसी में से उद्भूत हो, नहीं तो यह दावा करने से कि 'सुनें कि मेरी कविता में उनकी मौत की सज़ा का ऐलान किया/जा रहा है' (वेणु गोपाल) कविता मृत्यु के बोध की कविता नहीं बनती। रामदरश मिश्र और धूमिल ने अपनी कुछेक कविताओं द्वारा मानव-स्थिति को ठोस सामाजिक ब्यौरों में, सामाजिक शक्तियों की टकराहट में रखा है और अपनी कविताओं की संरचना में गूँथकर एक संगति बैठाने की कोशिश की है। इस कोशिश में सब से अधिक आड़े आयी है इन कवियों की सामान्यीकरण की प्रवृत्ति: 'धरती फट गयी है कितने टुकड़ों में / और हर टुकड़े को बारी-बारी खा रहा है / बड़े इतमीनान से / एक अकाल /एक बाढ़ / एक महँगाई / एक बेकारी' (रामदरश मिश्र)। जहाँ कहीं वे इस प्रवृत्ति से उबरे हैं, उनकी कविता से होने न होने के बीच की यन्त्रणा, सामाजिक अनुपगा सहित व्यक्त हुई है 'बार-बार लगा / कि पहचानने वाले हाथों का दबाव / मेरे खून तक, मेरी आवाजों तक कैसा है।' धूमिल में सामान्यीकरण की प्रवृत्ति कुछ अधिक है 'मैंने अहिंसा को / एक सत्तारूढ़ शब्द का गला काटते हुए देखा / मैंने ईमानदारी को अपनी चोर जेबें / भरते हुए देखा / मैंने विवेक को / चापलूसों के तलवे चाटते हुए देखा' (धूमिल)। कुमार विकल की कविता भी सामाजिक स्थितियों के तल्ख एहसास से सम्बद्ध है। उनमें सामाजिक स्थितियों का कोरा स्वीकार नहीं। कवि हिजड़ों की शव-यात्रा का साक्षी नहीं बनना चाहता. 'सच कहता हूँ / तुम मेरी जिह्वा पर जलते अंगारे रख दो / कानों में सीसा भर दो / आँखों में जहरीली मेख रोप दो/ताकि मैं हिजड़ों की शवयात्रा का साक्षी न बन पाऊँ।'

यह सही है कि आज कविता किसी 'चालू सिलसिले का स्वीकार मात्र' (ऋतुराज) नहीं रह गयी है। पर इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कविता को इस सिलसिले का एक बड़बोला अस्वीकार मात्र घोषित कर दिया जाय। निस्सन्देह, यह आज के कवि के आत्म-संघर्ष की विकट स्थिति है जिसकी ओर कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह ने संकेत भी किया है :

> समुद्र को तैर सकने में अपने को अक्षम पा
> रहे ये लोग आत्म संघर्ष की विकट स्थिति
> में गुजर रहे हैं (मैं इनके गूँगे आत्म-संघर्ष
> के मुँह में जबान डालने की कोशिश में हूँ)

सवाल यह है कि गूँगे आत्म-संघर्ष के मुँह में जबान डालने की कोशिश रचनात्मक स्तर पर किस रूप में प्रतिफलित हो कि वह कविता बने ? आज की कविता को परखने के लिए यह प्रश्न बुनियादी महत्त्व का है।

समकालीन कविता :
अस्वीकार का विचार या मुद्रा

अब इस बात पर ज़ोर देने की ज़रूरत नहीं रह गयी है कि समकालीन कविता पूर्ववर्ती कविता मे भाषा, सवेदना और काव्य-मुहावरे के स्तरो पर कितनी बदल गयी है और भिन्न हो गयी है। इस बदलाव और भिन्नता को आज का पाठक कविता के स्वभाव, रचाव, सरचना और सृजन-प्रकृति मे साफ तौर पर देख रहा है। आज की कविता का बदलाव निस्सन्देह तात्त्विक और बुनियादी किस्म का है। कविता और कवि-कर्म की धारणा मे अब काफी परिवर्तन आ चुका है। कविता की 'मिथ' के टूटने और उसे नए रूप मे परिकल्पित करने के पीछे एक विशेष और भिन्न बोध है जो अस्वीकार से अनुप्रेरित है। अस्वीकार द्वारा पुरातन मूल्य-व्यवस्था को नकारा जाता है, लेकिन यह नकारना आधुनिक व्यक्ति की पीड़ा, तनाव, विसगति और विडम्बना से जुड़े होने के कारण एक मूल्य-स्तर पर सक्रान्त भी रह सकता है। आज के कवि के सास्कृतिक और काव्य-परम्पराओ तथा सस्थाओ और व्यवस्थाओ के विरुद्ध हो जाने के पीछे अस्वीकार की यही दृष्टि है, भले ही कुछ कविताओ मे यह दृष्टि एक मुद्रा या लहेजा बन कर रह गयी हो।

अस्वीकार आधे या अधूरे मन से नहीं, संपूर्ण बौद्धिक मानसिक और भावनात्मक शक्ति से किया जाता है। इसीलिए अस्वीकार केवल भावुक प्रतिक्रिया, महज नकार, कोरा विद्रोह, आक्रोश या विस्फोट न हो करके, रचना के पक्ष मे एक दर्शन है, जिसका

धरातल मानवीय स्थितियों से गहरे में सम्पृक्त होने की वजह से संवेदनात्मक है। कविता के सन्दर्भ में अस्वीकार स्थूल नारेबाजी या लफ्फाजी न हो कर एक आन्तरिक और सर्जनात्मक प्रक्रिया है। अस्वीकार अगर तीव्र प्रतिक्रिया या विस्फोट के रूप में अभिव्यक्त है तो वह कविता के काम का नहीं। वह ज्यादा से ज्यादा एक सुविधा-जनक मुद्रा बन सकता है, उस से 'अस्वीकार का भ्रम' पैदा हो सकता है जिस से कविता में शब्द छल सरक आता है। अस्वीकार की यह मुद्रा कविता को न विचार-स्तर पर प्रामाणिक बनने देती है न अनुभूति स्तर पर।

आधुनिक अस्वीकार का आधार है विज्ञान और यंत्र-सभ्यता की निरपेक्ष, निर्मम और क्रूर दृष्टि। इसी लिए अस्वीकार का आधुनिक विचार के रूप में ग्रहण करने का इतिहास पिछले कुछ वर्षों का ही है। इसकी शुरुआत प्रयोगवादी कविता से मानी जाती है। पर इस कविता में अस्वीकार एक सुविधा से अधिक नहीं है। संवेदना और विचार के सूक्ष्म स्तरों पर अस्वीकार की व्याप्ति इस कविता में लगभग नहीं है। प्रयोगशील कविता प्रयोग और प्रयोगशीलता के प्रक्षेपित शब्दों के सहारे चर्चित तो हो गयी पर नए सन्दर्भों में आदमी के बदलते हुए एहसासों को (कुछेक कविताओं में दुविधाग्रस्त मन स्थिति के चित्रण के बावजूद) कोई नया मुहावरा न दे सकी। इस में अस्वीकार एक धारणा और प्रतिक्रिया बन कर आया, विचार और एहसास बन करके नहीं और यही प्रयोगवादी कविता के बहुत जल्दी एक मुद्रा और 'मैनरिज्म' बनने का कारण बना। इस मुद्रा की गिरफ्त से नयी कविता भी छूट न सकी, यद्यपि इस में पहली बार अस्वीकार का एक वैचारिक आधार देने की कोशिश की गयी। इस कविता में विघटन और मोहभंग के स्वर तो उभरे, लेकिन विघटन और मोहभंग का आशावाद और मानववाद के रूप में हृस्व हो जाने के परिणामस्वरूप, अस्वीकार अपने आन्तरिक तार्किक के रूप में 'इवाल्व' न हो सका। नयी कविता जिस मूल्य व्यवस्था से जुड़ी हुई थी उस का अस्वीकार या प्रकृति और दर्शन से कोई तालमेल न बैठ सका। यह तालमेल समकालीन कविता में है। इस में हम अस्वीकार को, आधुनिक व्यक्ति के सन्दर्भ में रचित एक चिन्ता धारा के रूप में और आन्तरिक तर्क-संगति में विकसित हुआ पाते हैं, पर यहाँ भी कुछ ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं जहाँ अस्वीकार सर्जनात्मक न हो करके सामान्य और सतही है और तकनीक और अन्दाज से आगे नहीं बढ़ता।

समकालीन कविता से कुछ उदाहरण ले कर बात स्पष्ट की जा सकती है। श्रीकान्त वर्मा की कविताओं में अस्वीकार की तल्खी जरूर है। राजनीतिक संस्थाओं के प्रति उन की कविताओं में तीव्र घृणा का भाव है। कवि को लगता है कि राज-नीतिज्ञों की आत्माएं बिल्लियों की तरह मरी पड़ी हैं। लोकतंत्र मखौल बन चुका है और—

> रथ में जुते हैं दो उन्नत
> पहियों की जगह

यहाँ अस्वीकार केवल कथन और अन्दाज मे है। कवि सस्थाओ के प्रति घृणा-भाव को मानव नियति के सन्दर्भों से सयुक्त नही कर सका है। दूसरी ओर राजकमल चौधरी अस्वीकार को वैचारिक पीठिका पर सर्जनात्मक मुहावरा देने मे सफल हुए हैं

> कवियो की शब्दावली मे लिखे गए शान्ति के सयुक्त वक्तव्य
> हाईड्रोजन-बम परीक्षण मे पख फडफडाते हुए
> कबूतरो की मौत मर जाते हैं
> और बाकी शहरो मे राजनीतिक वेश्याओ ने पीला मटमैला अधेरा फैला रखा है।
> अपनी देह को उजागर करने के लिए
> नयी दिल्ली म और ढाका कराची मे अब कोई फर्क नही है

विश्व भर की राजनीति न हमे कहा ला पटका है? तमाम आदर्श और मूल्य अपनी प्रामाणिकता खो बैठे हैं

> पराजय के तीस वर्षों म एकत्र की गई धम सैक्स इतिहास
> समाज परिकल्पना ज्योतिष की किताबें डाक टिकट सिक्के सोवेनियर
> मैं बडे डाक घर के बहुत बडे लेटर बाक्स मे डाल आया

राजकमल चौधरी का अस्वीकार मात्र फैशन नही, बल्कि मानवीय अस्मिता के आमने-सामने है। कवि का सगठन और सस्थाओ के विरुद्ध हो जाना 'अपनी इकाई बचाने' और 'अपनी मुक्ति के लिए' है। अस्वीकार का जोश या आवेग यदि अस्तित्व-गत स्थितियों से जुडा हुआ नही है तो उस के मुद्रा बन जाने का खतरा रहता है। कैलाश वाजपेयी स्वय को उस खतरे से बचा नही सके हैं, उन की कविताओ की तनाव मुद्रा अस्वीकार को कही भी रचनात्मक अर्थ-सन्दर्भ नही पाने देती, अस्वीकार का भ्रम पैदा करती है। उन की कविताओ की 'टोन' मे जो 'रेहुटरिक' और बयान-बाजी है उस से इन कविताओ के बोध की प्रामाणिकता के सामने प्रश्न-चिन्ह लग जाता है। यह एक 'सिनिक' का अस्वीकार है। 'स्नायुघात', 'देश — एक शोक गीत' और 'आगामी भूत वाणी' ऐसी ही कविताएँ हैं।

दूधनाथ सिंह की कविताओ मे अस्वीकार का न तो कथन है और न ही मुद्रा। उन्होंने अस्वीकार को सवेदना के सूक्ष्म और गहन स्तरो पर अभिव्यक्त किया है और उसे वरण की स्वतन्त्रता के सन्दर्भ से जोड दिया है। उसे लगता है कि वह 'अधियारे के शून्य मे बाहें फैलाए, मौत के भयानक, काले मेहराबो जबडे से गुजर रहा है' और चुपचाप 'उजाले के चिथडे बीन रहा है'। उसे लगता है जैसे रूह मे सूराख हो गया है और 'भारतीय प्रजातन्त्र एक ढकोसला है जहां धीरे-धीरे सुलगते जान का एहसास उसे है।' कहने की जरूरत नही है कि यहाँ अस्वीकार मानव मुक्ति और मानव नियति से सवेदना के महीन सूत्रों द्वारा जुडा हुआ है। श्याम परमार की इधर प्रका-

शित कविताओं मे अस्वीकार का स्वरूप वैचारिक है और उस की तर्ज बौद्धिक बात-चीत की है। किसी सस्था, वाद या चिन्तन धारा से जुड़े बगैर यानी उन्हे नकारते हुए हताश स्थितियो के भीतर से ही किसी मूल्यवत्ता की चिंगारी को प्रज्ज्वलित करना, अस्वीकार का ही एक स्तर है :

उजाले के लिए मैंने बाहर नही देखा
आज भी नही देखूगा
देखूगा आसपास खुद अपनी आंखो से
उस के लिए अधेरा और भी गहरा हो जाए तो हो जाए
उजाला तो उस से अनिवार्य हो जायेगा
और वह निश्चय ही उसी अधेरे से फूटेगा

कवि, 'गोल चेहरे वाले सत्य' को अस्वीकारता है, क्योकि वह निरर्थक सिद्ध हो चुका है। उस के सामने सत्य का दूसरा ही-बदला-हुआ रूप है

गोल चेहरे वाले सच को कविता की भट्टी म झोक कर
मुझे मालूम हुआ जा रहा है कि आज का सच लोहा नही है।

चन्द्रकात देवताले की कविता मे अस्वीकार ज्यादातर एक औजार के रूप मे गृहीत है, विचार के रूप म न्ही। अपनी अस्मिता को कुतरती हुई / राजनीति की 'दुर्गंध झेलने हुए अपनी सारी जिजीविषता को नोच कर मेज पर रख देने की बात' उन क कविता मे हैंथित है। उन की दृष्टि भी निष्क्रिय है मैं सिर्फ पत्थर आंखों से / देखता रहूंगा'। सौमित्र मोहन की लम्बी कविता लुकमान अली' मे अस्वीकार को एक भिन्न सन्दर्भ दे कर विसगति का ग्रहण कराया गया है—लुकमान अली खुले गटर मे खड़ा हो कर राष्ट्र की सेवा कर रहा है और उसे इस बात का पता नहीं है।' ×× 'लुकमान अली प्रजातत्र की हड्डिया में महापुरुषों की डाक टिकटें सिक्के और वीरता चक्र इकट्ठे करता हुआ भीख माग रहा है / वह अगूठे मे क्रॉबलेवर पहन कर / सलाम करता है।' यहां अस्वीकार बहुत गहरे स्तरो पर रचनाशीलता के तकाजो को पूरा करता हुआ, व्यजित हुआ है। रमेश गौड की कविताओ मे अस्वीकार का लहजा आवेशपूर्ण है—'चेहरा किस के पास है अपना—? / और जिस के पास / है /—/ वह एक ऐसी निरीह घास है / जिसे पहले एक बकरी चर रही थी / और अब बैलों की जोड़ियां व गऊ माताएं।

दरअसल, अस्वीकार एक खतरनाक औज़ार भी है और एक रपटीला विचार भी। समसामयिक जीवन की भयावहता मानव-स्थितियो के यथार्थ और अस्तित्व-सकट की बुनियादी समस्याओ से जूझने और निपटने के लिए आज का कवि इसे औज़ार और विचार दोनो ही स्तरो पर इस्तेमाल करता है। विचार की भूमिका के बिना केवल औज़ार के रूप मे प्रयुक्त होने पर इस के भोथरे हो जाने का खतरा है।

अस्वीकार जब वैचारिक स्थिति पर टिका हुआ होगा तभी अस्तित्व-सकट की भयावह स्थितियो, मानवीय चरित्र और नियति की विसगतियो तथा गहरे कलात्मक अभिप्रायो से जुड सकता है। यानी कविता म अस्वीकार की 'टोन' या उस के 'अन्दाजेबया' का महत्त्व नही है, महत्त्व है अस्वीकार के कलात्मक रचाव के रूप मे प्रतिफलित होने का और उसके वैचारिक और सजनात्मक अथ मे सक्रान्त हो पाने का। अस्वीकार के खरे या खोटेपन की परख इसे रचनाशीलता के तकाजो के सन्दर्भ मे रख कर ही की जा सकती है।

एक कविता वर्ष से जूझते हुए

यो तो हर वर्ष काव्य इतिहास मे कुछ-न कुछ महत्त्व का जोड जाता है, पर कुछ वर्ष अपने कृतित्व के कारण विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। सन् १९६७ ऐसा ही एक कविता-वर्ष है जिस मे ३०-३५ वर्ष पुराने 'अज्ञेय' का सग्रह भी छपा है और युवा-पीढी के कई प्रमुख कवियो के कविता सग्रह भी। इन कविता-सग्रहो से गुजरते हुए यह कहा जा सकता है कि ये महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट कविता-सग्रह हैं एक तो रचनात्मक अर्थ मे और दूसरे इन मे समकालीन परिदृश्य उभर कर सामने आता है और समकालीन कविता की एक निजी पहचान बनती नजर आती हैं। कविता-सग्रह है : 'कितनी नावों मे कितनी बार', माया दर्पण, देहान्त से हट कर, आत्महत्या के विरुद्ध और अपनी शताब्दी के नाम। इन कविता-सग्रहो से गुजरते हुए चलने का मतलब है समकालीन कविता की चुनौतियो से जूझते हुए चलना।

किसी भी कवि से और 'अज्ञेय' जैसे प्रतिष्ठित कवि से, विशेषत, यह आशा की जा सकती है कि उस का नया कविता-सग्रह कथ्य और शिल्प के पुराने और पिछले मुहावरे को तोड सकने मे समर्थ हो और उस मे नए मुहावरे की तलाश और बानगी भी हो जिस से यह पता चल सके कि कवि कथ्य में कहा और कितना मौलिक है और नए बोध को व्यक्त कर पाने की उसमे कितनी क्षमता है। किसी कवि के वास्तविक 'विकास' को समझने और पहचान पाने की यह एक प्रामाणिक विधि मानी

जा सकती है। इस दृष्टि से प्रस्तुत संग्रह को देखने से हम पाते हैं कि कवि 'अज्ञेय' की इन कविताओं का मुहावरा और रचना-तन्त्र पुराना हो है। 'दे रहा हूँ', 'दे दिया गया' और 'स्वेच्छा से दिए जा चुकने' का भाव इन कविताओं पर मढ़ा हुआ प्रतीत होता है। संग्रह की अधिकांश कविताओं में यह भाव एक औपचारिक भंगिमा लिए हुए है। यह 'अज्ञेय' का कथ्यगत रूढ मुहावरा है जिसकी गिरफ्त से कवि छूट नहीं पाया है। 'समर्पित होने' या 'दे दिए जाने' का भाव यदि वस्तु-स्थितियों के भीतर से गुजर कर या विसंगतियों और त्रास का झेल कर जगा होता तो यह 'अज्ञेय' के काव्य की उपलब्धि होता। पर, हुआ यह है कि पिछले काव्य-संस्कारों और आग्रहों के एक 'आर्केटाइपल इमेज' ने उनकी रचना प्रक्रिया का दबोचा हुआ है। इस 'इमेज' की जड़ें उनकी काव्य-वस्तु और शिल्प में गहरे धँसती चली गयी हैं। 'अज्ञेय' अपने को दोहराते या 'रिपीट' करते हैं और अपने मामूली से कथ्य के इर्द-गिर्द एक 'प्रभामंडल' रचते हैं। दोहराने या रिपीट करने की यह प्रवृत्ति, कथ्य के अतिरिक्त, भाषा और शिल्प के स्तर पर भी देखी जा सकती है। इसमें सन्देह नहीं कि शुरु-शुरु में 'अज्ञेय' ने भाषा को एक नया 'तेवर' दिया था और शिल्प को एक नयी दृष्टि दी थी—अपने अभिनव प्रयोगों द्वारा। पर, बावजूद इन प्रारम्भिक अभिनव प्रयोगों के, उनके उत्तर-काव्य की भाषा और शिल्प विधि सुनिश्चित और रूढ होती गयी जिसे भटक पाने में वे असमर्थ रहे। उनके काव्य की कथ्यगत औपचारिक भंगिमा और भाषा, शिल्प-विधि की सुनिश्चितता प्रस्तुत संग्रह में लक्षित की जा सकती है। इस संग्रह की भाषा उनके पिछले संग्रह की भाषा के समान ही व्यवहार करती प्रतीत होती है। उपमानों, प्रतीकों और बिम्बों के प्रयोग और नियोजन में भी उन्होंने अपने को दोहराया है।

इन कविताओं की मूल रचनात्मक प्रवृत्ति और रचना-वृत्ति क्या है ? यह जानना जरूरी है। इसे हम कुछ कविताओं के विवेचन के सन्दर्भ में जान सकते हैं। पहली कविता 'उधार' में रहस्य की धुंध व्याप्त है। कविता की भाषा इस धुंध के 'होने' को प्रमाणित करती है। कविता में फैंटेसी का विधान चूँकि सतही है अतः यहाँ सत्य का कथन मात्र है, उसका सम्प्रेषण नहीं। 'यह अंधकार में जाग कर सहसा पहचानना कि जो मरा है वही ममेतर है' महज एक कथन है। इसमें सत्य को (कि जो मरा है वही ममेतर है) पहचानने की प्रक्रिया ही अनुपस्थित है। कविता की बनावट में जो रहस्य का पुट है उसके कारण कविता किसी मानवीय सत्य की प्रतीति नहीं होने देती। वास्तव में, 'मानवता' कवि के लिए एक अमूर्त धारणा है। 'कोई अपना नहीं कि सब अपने हैं' का अंदाज कोई मानवीय-संवेदना या मनुष्य से जुड़े होने का एहसास नहीं जगाता। इसी प्रकार 'ओ निस्संग ममेतर' कविता भी रहस्य का 'प्रभामण्डल' ओढ़े हुए प्रतीत होती है। इस कविता की दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं

> ममता न तरणी की तीर और माडा
> वह डोर मैंने तोड़ दी—

इन पंक्तियों में 'ममता', 'तरिणी', 'तीर' और 'डोर' ऐसे शब्द हैं जो छाया-

वादी कविता मे बार-बार प्रयुक्त हुए हैं जिससे कि इनका अर्थ रूढ हो चुका है या विशिष्ट अर्थ लुप्त हो चुका है। कवि ने इन शब्दो को कोई नया अर्थ-सन्दर्भ नहीं दिया है। 'स्वाति बूद' और 'चातक' का प्रतीकार्थ भी यहाँ इतना रूढ है कि रोमांटिक या अध्यात्मपरक अर्थ के सिवा कुछ भी पल्ले नही पडता है। एक अन्य कविता मे वे 'दर्द' की बात करते हैं और उसे अपने से भी बडा कहते हैं, पर इस दर्द का कविताओ मे न तो कोई रूप उभरता है और न ही उसका बोध जगता है।

स्पष्ट है कि 'अज्ञेय' का कविता-वृत्त उनके 'निज' या 'अह' की सीमाओ मे बद्ध है। इस पर वे रहस्य का जाल तानते हैं—एकान्त मन की गुहाओ का रहस्य-जाल जिस पर वे व्यक्ति और समाज, मम और ममेतर का सैद्धान्तिक खोल ओढाते हैं और मानवता के साथ जुडे होने का 'भ्रम' पैदा करने की कोशिश करते हैं। पर, इस कोशिश के बावजूद, यह 'भ्रम' या 'तिलिस्म' टूट जाता है। भाषा उनकी कलई खोल देती है।

कवि की राष्ट्र और युद्ध के सन्दर्भ मे रचित कविताएँ अधिक मूल्यवान हैं। 'अन्धकार म जागने वाले' कविता ही लें। इसमे अकेलेपन और मामूलियत की सवेदना-सन्दर्भच्युत नही है—'अधकार म जागने वाले सभी अकेले होते हैं'। इसमे मूल्य-निष्ठा और उदात्त-सकल्प का बोध भी असन्दर्भित नही है, भले ही यह भावुक अर्थ-व्यजनाएँ देता हो

> और मेरी मामूलियत एक सामर्थ्य, एक गौरव
> एक सकल्प म बदल जाती है
> जिसमे मैं करोडो का साथी हूँ।
> रात फिर भी होगी या हो सकती है
> पर मैं जानता हूँ कि भोर होगा
> और उसमे हम सब
> सकल्प से बँधे, सामर्थ्य से भरे और एक गौरव से
> घिरे हुए हम सब
> अपने उन कामो म जमे होगे
> जिन से हम जीते है
> जिन से हमारा देश पलता है
> जिन से हमारा राष्ट्र रूप लेता है
> वयस्क, स्वाधीन, सबल, प्रतिभा-मडित, अमर
> और हमारी ही तरह अकेला—क्योकि अद्वितीय"

यहाँ कवि ने राष्ट्र के यथार्थ चित्रण के साथ, राष्ट्र के सामूहिक सकल्प को भी मानसिक स्तर पर सक्रान्त किया है।

राष्ट्र और युद्ध के सन्दर्भों मे रचित ऐसी कविताओ के अलावा, सग्रह की अन्य कविताएँ समकालीन सन्दर्भों से, प्राय, कटी हुई हैं। इन कविताओ मे न तो सम-

कालीनता का बोध है और न ही आधुनिक-बोध । भाव-बोध के स्तर पर ये कविताएँ रोमानी हैं । इनमें केवल अज्ञेय-बोध है—'अज्ञेय' का 'निज' का बोध जिसे 'पर' का बनाने या दिखाने के लिए वे शुरू से ही कौशल दिखाते रहे हैं ।

'अज्ञेय' के काव्य में सश्लिष्टता का एक महत्त्वपूर्ण गुण है । इससे उनकी कविताओं में एक आन्तरिक सहिति आई है । पर, यह रचनात्मक धर्म के दबाव के कारण उतनी नहीं है जितनी की व्यवस्था प्रियता के 'क्लासिकल' गुण के फलस्वरूप। इस एक क्लासिकल प्रवृत्ति के अलावा अज्ञेय की सौंदर्य-दृष्टि रोमांटिक और आधुनिक है । उन्होंने शिल्प स्तर पर निश्चय ही अपनी प्रायोगिक क्षमता का परिचय दिया है। पर, उनके काव्य का शिल्प उत्तरोत्तर एक लीक एक पैटर्न बनता गया है। प्रस्तुत सग्रह में प्रतीकों बिम्बों और उपमानों के विधान में भी वे स्वनिर्मित लीक से अलग नहीं हट सके हैं । *होने का सागर कविता में पुरान ग्रथ सन्दर्भों में ही प्रतीकों* का प्रयोग किया गया है। काच के पीछे मछलियाँ कविता में भी काच और 'मछली' जैसे प्रतीक शब्दों को कोई नया सन्दर्भ नहीं दिया गया है । परम्परागत रूपक-शैली में प्रयुक्त होने के कारण ये शब्द किसी नयी अर्थवत्ता से सयुक्त नहीं हो पाए हैं ।

'अज्ञेय' के काव्य सग्रह की कविताओं के समानान्तर रख कर जब श्रीकान्त वर्मा की कविताओं (मायादर्पण) को देखते हैं तो पाते हैं कि एक ही वर्ष में प्रकाशित इन दो कवियों की दृष्टि में दो कविता युगों का अन्तर है—भाषा और संवेदना के स्तर पर। 'अज्ञेय' जहाँ २५ वर्षों के अन्तराल के बाद भी तार सप्तक के प्रकाशन-वर्ष में पाँव जमाए खड़े हैं वहाँ श्रीकान्त वर्मा २५ वर्षों की कविता-यात्रा के बाद के अगले पड़ाव को सूचित करते हैं । 'अज्ञेय' की कविताएँ जहाँ सनातन भाव-बोध की मुद्रा में हैं वहाँ श्रीकान्त वर्मा की कविताएँ समकालीनता-बोध को व्यक्त करती हैं । 'अज्ञेय' के काव्य में—वस्तु और शिल्प दोनों ही स्तरों पर, एक औपचारिक भगिमा है, श्रीकान्त के काव्य में यह भगिमा नितान्त अनौपचारिक है। 'अज्ञेय' के काव्य में क्लासिकल किस्म की अद्भुत सश्लिष्टता है, पर श्रीकान्त की कविता की बुनावट में एक जबरदस्त रचनात्मक लापरवाही है । 'अज्ञेय' की भाषा विशेष, गढ़ी हुई और कुछेक स्थलों पर बिम्बात्मक है पर श्रीकान्त की भाषा एक साथ बिम्ब-धर्मी और सपाट है। *वास्तव में, अज्ञेय और श्रीकान्त वर्मा की रचना-दृष्टि में मौलिक भिन्नता है* । श्रीकान्त तो कवि-कर्म को ही (निर्धारित अर्थ में) नकारते है

> मुझे कवि मत कहो
> मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
> ईजाद करता हूँ
> गाली
> फिर उसे बुदबुदाता हूँ

इस दृष्टि के पीछे कवि का आक्रोश और घृणा भाव है जो उसमें पैदा हुआ है सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक सन्दर्भों में । उसके पास तो बस 'कुछ कुत्ता

दिनों की छायाएँ' और 'बिल्ली रातों के अन्दाज हैं' । यहाँ 'कुत्ता' और 'बिल्ली' *संज्ञाओं को विशेषणपरक बिम्बों के रूप में प्रयुक्त करके अर्थहीनता और त्रास के* अनुभव को प्रेषणीय बनाया गया है । सभी कुछ भुलाया जा चुका है—घास भी ? प्रेम भी ? कुछ भी न कर पाने का एहसास है व्यक्ति को और उसकी आँखों में आँखें डाले बैठा हुआ है एक बियाबान (तावीज़) । सम्बन्ध है तो केवल अपरिचय का (युगल) और सार्थक होने की हर कोशिश निष्फल हो जाती है (निष्फल) और प्रेम जैसी उदात्त भावना और अधिक अकेला कर जाने के सिवा कुछ नहीं दे जाती (एक और ढग) । कवि जीना चाहता है, महुए के वन में एक कण्डे सा सुलगना, गँगुवाना और धुधवाना चाहता है । 'घर-धाम' में एक मूलगत आकांक्षा है :

> सारे संसार की सभ्यताएँ दिन गिन रही हैं
> क्या मैं भी दिन गिनूँ

वह चीख कर, चिल्ला कर एहसास दिलाना चाहता है स्वयं को कि वह जीवित है

> मैं न जाने किस कन्दरा में
> जा कर चिल्लाता हूँ मैं
> हो रहा हूँ । मैं
> हो रहा हूँ

पर वह पाता है कि आज की स्थिति में वह कुछ नहीं कर सकता । केवल क्षय करता है वह, कुछ भी तय नहीं कर पाता । पिछले 'मोह' और 'भ्रम' भग हो चुके हैं, सांस्कृतिक 'मिथ' टूट चुकी है और आज की 'वैक्यूम' स्थितियों में

> निढाल हो
> अकेले
> सूली पर चढ जाना ।
> *अर्थ नहीं पाता* (सम्य बोध)

वर्तमान अस्तित्व संकट की पगु स्वीकृति है इन पंक्तियों में । यथा स्थितियों को अस्वीकारने वाला विद्रोहपूर्ण स्वर इन कविताओं में कहीं नहीं है । कहीं-कहीं मैंने व्यग्य अवश्य किए हैं । (दिनारभ, नकली कवियों की वसुन्धरा, क्रान्ति और लोकतन्त्र आदि कविताएँ) पर जिजीविषा और अस्तित्वबोध की छटपटाहट व्यजित करने वाली ये कविताएँ नहीं हैं । निराशा और त्रास की मन स्थितियों में-से गुजरते हुए भी व्यक्ति जीना चाहता है । मुक्ति की आकांक्षा अभी मरी नहीं है । मूल्य-बोध के स्तर पर श्रीकान्त की कविताओं में वस्तु स्थितियों का चित्रण 'निहिलिज़्म' की हद तक है । इन स्थितियों को पेश करने में जान-बूझ कर एवं लापरवाही बरती गयी है । लापरवाही *के अन्दाज में स्थितियों का विषम और असंगत संयोजन करने से विसंगतियों के* तटस्थ चित्रण में कमोबेश सहायता मिली है । यह बात और है कि इससे रचना की 'आरगैनिक' एकता कई स्थलों पर खंडित हुई है और कहीं-कहीं कविताएँ सूचनाओं

का पुंज बनकर रह गयी हैं ('घर से निकल कर', 'समझ मे न ग्राने वाला दिन', 'दिनचर्या')।

श्रीकान्त की कविताएँ समकालीन जीवन और वर्तमान परिवेश मे पड़े हुए व्यक्ति की त्रासदी को उभारती हैं। इन कविताओ के मूल मे मध्यवर्गीय हताशा है। समकालीन सन्दर्भों से उपजी दमघोटू परिस्थितियो मे व्यक्ति को बेहयाई, ऊब, सन्ताप और त्रास के जो अनुभव होते हैं—वे ही इन कविताओ का ससार हैं। 'प्रेम' का बिम्ब अपने स्थान मे खिसक चुका है और अब ऐसे सम्बन्धो मे भी बेहयाई इस कदर है :

> बाध्य हैं हम दोनो
> एक दूसरे से घृणा
> करते हुए
> करने को प्यार।

और कवि को एहसास है 'हरेक की नियति ही यही है कि कोई और उसे खर्च करे।' हरेक के साथ शतरंज खेलता है वह और उसकी आत्मा के सुराख मे त्रास घुसा हुआ है—

> सारा ससार अपने कामो मे
> फसा रो अपनी उगलियाँ
> उधेड़बुन करता है
> डरता है मुझ से
> मेरा पड़ोस

कवि अच्छी तरह से जानता है कि किसी के न होने से कुछ भी नही होता। उसमे एक अन्धे की तरह पैरो की आहट सुनने का उत्साह अब नही रह गया है क्योंकि वह जान गया है कि पाने की विकलता और न पाने का दुख दोनो अर्थहीन है (समाधि-लेख)। इस अर्थहीनता के बोध की अभिव्यक्ति इन कविताओ मे है :

> एक आदमी दूसरे का और दूसरा तीसरे का दहेज है
> जिसकी वाणी मे आज तेज है
> दस साल बाद
> वह इस तरह लौट आता है
> जैसे किसी वेश्या के कोठे से
> अपने को बुझा कर

(समाधि लेख)

कवि की राजनीतिक चेतना अत्यन्त तीखी है। राजनीतिक सस्थाओ के प्रति इन कविताओ मे तीव्र घृणा का भाव है।

कवि ने राष्ट्र का गौरव-गान करने वाले और राष्ट्र के प्रति भक्ति समर्पित करने वाले कवियो पर करारे और तीखे व्यंग्य किये हैं—**नकली कवियो की वसुंधरा** कविता मे, यह बात और है कि इन कविताओ मे पूरे राष्ट्र का नक्शा नही है।

इन कविताओं की भाषा, शिल्प-दृष्टि और लय बिलकुल भिन्न किस्म की है—ताज़ी और नयी। भाषा की प्रकृति यहां बिलकुल बदली हुई है। भाषा यहां स्वत 'व्यवहार' करती है और अनुभूति और अभिव्यक्ति के बीच कोई फासला नहीं आने देती। ऐसे यह कथ्य और अभिव्यक्ति को जीवन्तता देती है। भाषा का सहजता यहाँ निहायत अकृत्रिम और अनौपचारिक है। भाषा मे सपाटबयानी भी है और बिम्बों और प्रतीकों का अछूता सौन्दर्य भी। श्रीकान्त वर्मा की कविताओं का लय विधान विशेष तौर से चर्चा का विषय रहा है। डिलन टामस की तरह उन्होंने तुकों का प्रयोग किया है जिससे कि कविता के बीच-बीच मे इम्प्रेशन बदलता चलता है। कभी-कभी श्रीकान्त के इस तुक के आग्रह के कारण कविता हास्यास्पद भी हो गयी है। इस वजह से ही *मेरा यायाँ हाथ की* रचना शिथिल है। 'ज़ून' कविता मे भी लय का सिर्फ प्रयोग-कौतुक है।

कैलाश वाजपेयी की कविताएं (देहान्त से हट कर) श्रीकान्त की कविताओं के समान समकालीनता-बोध से जुडी हुई हैं। कैलाश वाजपेयी ने इस बोध को एक भिन्न कोण से, दूसरे स्तर पर, अभिव्यक्त किया है। समकालीनता का दबाव दोनो पर है, पर दोनों अपनी अपनी विशिष्ट रचना-दृष्टि, रचना-प्रवृत्ति, भाषा-शैली और शिल्प के अनुरूप इस दबाव को रचनात्मक धरातल पर सहते और रूपायित करते हैं। श्रीकान्त वर्मा जहा प्रत्यक्ष अनुभवों को बेपरवाह ढग से काव्य-प्रक्रिया मे धकेल देते हैं और उन्हें रूप पाने देते हैं, वहा कैलाश वाजपेयी अपनी रचना-प्रक्रिया के दौरान स्थितियों को सायास जोडते चलते हैं। वे स्थितियो को जहा बिम्बो के रूप मे उठाते हैं, वहा सारी कविता बिम्बों के टाको का एक सिलसिला प्रतीत होती है। देहात से हट कर की पहली कविता विवरप्रायः ही लें। इस कविता मे सवेदना के टुकडे खडित बिम्ब-विधान की बैसाखियो के सहारे खडे हैं। अलग अलग बिम्ब सवेदना के विभिन्न स्तरो को सूचित करते हैं। इस कविता मे तनाव और मृत्यु-बोध की अभिव्यक्ति का एक बिम्ब-स्तर इस प्रकार है :

> एक नई नस रोज तनना शुरू करती है
> और टूटने तक चढती चली जाती है
> आदमी आदमी के बीच एक वक्र है
> और यह वक्र बढती चली जाती है

पर इस कविता म न तो सवेदना की प्रगाढता है और न ही बिम्बो का अन्योन्याश्रित तारतम्य। इस कविता की 'टोन' मे जो रेटरिक और बयानबाजी है वह इसके बोध की प्रामाणिकता के सामने प्रश्नचिह्न लगा देती है। इस सग्रह की अच्छी-भली कविताएँ इस बयानबाज़ी और रेह्टरिक के कारण अपना मूल्य खो बैठी हैं। स्नायुघात कविता विघटित सम्बन्धो, व्यर्थता बोध और ऊब को उद्घाटित करती है। कविता की यह पंक्ति 'सूने की सन सन के नीचे निस्तेज बियाबान है', अत्यन्त प्रभावशाली ढग से आज की विघटित मानसिकता को व्यक्त करती है।

पर संग्रह के पृष्ठ ७-८ पर जो व्याख्याए दी गई हैं वे कविता के 'स्वरूप' को उभरने नही देती हैं। इसी प्रकार 'दैत्य दर्शन' कविता की अन्तिम चार पक्तिया 'विचार' की केवल व्याख्या हैं। कविता तो वही समाप्त हो जाती है जहा कवि कहता है—

भीतर कही एक लोथ है
जिसमे विचार दौड़ता है

कैलाश की कविताओ की पद-रचना और शब्दो और पक्तियो की आवृत्तियो मे भी बयानबाजी और 'रेटारिक' के प्रभाव को देखा जा सकता है।

कैलाश वाजपेयी की ये कविताएं एक सवेदनशील बौद्धिक व्यक्ति की अपने परिवेश के प्रति प्रतिक्रियाए हैं। परिवेश की गहरी चेतना कैलाश मे है। उनकी कविताओ मे राष्ट्रव्यापी 'कान्फ्यूजन' की अभिव्यक्ति मिली है। देश की वर्तमान दुर्दशा जहा नेताओ की 'भूसा स्पीचें होती हैं (देश-एक शोकगीत) और राजनीतिक दाव-पेंच मे साधारण जनता का शोषण गणतन्त्र (जिसे कवि एक 'बीमार गाय' कहता है) जैसी आदर्श शासन पद्धति का विघटन, आदि का ही चित्रण इन कविताओ मे नही है, इनमे व्यवस्था के पाषाण तले दम तोड रहे मामूली आदमी की बेचैनी, व्यथा और निरुपायता का भी चित्रण है जो महसूस करता है स्वय को 'एक नमकीन बूद सामूहिक दाह मे (गणतन्त्र)। व्यवस्था का किला हर हत्या के बाद और अधिक ऊचा हो जाता है (दहशत)। ऐसी व्यवस्था के सामने कवि को लगता है 'मर जाना ठीक है शायद मर जाता हूँ (मैं-देश) राजनीतिक और राष्ट्रीय सन्दर्भों से सम्पन्न इन कविताओ मे देश का एक बिल्कुल भिन्न स्वरूप उभरता है। देश की वाह्य परिस्थितियो का कोरा चित्रण यहा नही है। यहा तो देश की वाह्य वास्तविकता को अन्तर रूपान्तरित करके मूल्य-स्तर पर अभिव्यक्त किया गया है। कवि का अनुभव-ससार इस राजनीतिक चेतना की पीठिका पर ही आसीन है। इन कविताओ मे जो तीव्र आत्मग्लानि का स्वर है, वह गलित और गर्हित परिस्थितियों के कारण ही उपजा है। 'तेजाबी रोशनी और खोखली आवाजो के ठहरे सैलाव मे व्यक्ति अपने पूरे भाव जगत के साथ यन्त्र-ठुके पीपे मे बदल गया है (युगनद्ध)। विमुक्त शतो के लोग 'पशु परिस्थितियो मे जी रहे हैं जहा व्यक्ति सत्ता से नफरत भी करता है और समझौता भी' (विमुक्त शतो के लोगों से) वर्तमान 'भेड़िया सस्कृति' और 'सूअर सभ्यता' मे व्यक्ति या तो मरने को बदा है या फिर दात पैने करने और खाल ओढने को (शल्य चिकित्सा) इस सभ्य व्यवस्था मे उसे त्रासकारी अनुभव होने हैं·

एक सभ्य प्रेत
हर सुबह मेरे फेफड़े दबाता है
दबाता चला जाता है
(जैसे मैं कोई लाश हूँ) (दहशत)

जीते जी मृत्यु की यह तीव्र संवेदना मानवीय अस्तित्व संकट की भयावहता का बोध कराती है। अस्तित्व-संकट की इस भयावह स्थिति को कवि ने, मुख्यत व्यंग्य द्वारा उभारने की कोशिश की है। व्यंग्य के स्तर पर ही स्थितियों के प्रति कवि के रुख का पता चलता है।

इस संग्रह मे कुछ कविताएँ निश्चय ही भरती की हैं—व्याहत सुबह के अन्धेरे मे, एक और साधारणीकरण, मोनमर्ग, मानुषी, पिस्सू घाटी पर, एक खबर, सिक्ता-मथन, समुद्र अवचेतना-दृष्टि, विवोध, पालक के प्रति, गोरखधन्धा और बहुत सी छोटी कविताएँ बेहद सामान्य स्तर की हैं जिनमे उलझाव है या विस्तार है या सूचनाएँ है।

श्रीकान्त वर्मा और कैलाश वाजपेयी की कविताओं से बिल्कुल भिन्न तर्ज और मुहावरे मे हैं रघुवीर सहाय की कविताएं (आत्महत्या के विरुद्ध)। कविता के मान्य अर्थ मे शायद इन्हे कविताएँ न माना जाए। न माना जाय तो न सही, कवि कहता ही है

न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट सही

(फिल्म के बाद चीख)

इन कविताओं का सन्दर्भ राजनीतिक है। इसी सन्दर्भ मे कवि अपनी एक मूर्ति बनाता है और ढहाता है। लोग खण्डन चाहते हैं या मण्डन या फिर केवल अनुवाद लिसलिसाता भक्ति से। स्वाधीनता महज चौंकाती है—

स्वाधीन इस देश मे 'चौंकते है लोग
एक स्वाधीन व्यक्ति से

(स्वाधीन व्यक्ति)

कवि को लगता है कि अगल कुछ वर्षों म अत्याचार और भी अनायास होगा, विद्रोह और काइयां और जिन्दा रहने के लिए जान-बूझ कर चीखना जरूरी होगा। इन कविताओं म सामयिक राजनीति के विवरणों के साथ-साथ, राजनीतिक आग्रह स्पष्ट हैं (भीड़ मे मैं और मैं)। सामयिक राजनीति के दबाव के कारण ही यहा स्थितियों के ब्यौरे मात्र है।

इन कविताओं मे कविता के परम्परागत स्वरूप, आन्तरिक अनुशासन, और सगठन को भाषा, शिल्प और कविता की बुनावट के स्तर पर तोडने की कोशिश की गयी है। इन कविताओं का बदला हुआ मुहावरा अभिव्यक्ति की छटपटाहट तो सूचित करता है पर कविताओं मे यह मुहावरा सर्जनात्मक रूप नहीं पा सका है। यह अभिव्यक्ति-रूप कथ्य के सम्प्रेषण म सहायक नहीं है। इनमे कवि की कतिपय धारणाएँ और वक्तव्य हैं। अधिकाश कविताओं मे, पत्रकारिता के स्तर पर, सामान्य कथन हैं या सूचनाएं दी गई हैं।

इन कविताओं में सामान्य शब्दों का प्रयोग है। इन शब्दों में निहित ध्वनि यहाँ स्फुट नहीं हो पायी है। प्रस्तुत शब्द किसी नए अर्थ सन्दर्भ से स्फूर्त नहीं हैं। कहीं-कहीं तेज़ व्यंग्य अवश्य हैं। भाषा प्रायः 'लोग लोग भार तमाम लोग' के ढंग की सीधी और सपाट है।

दूधनाथसिंह भी कविता की दकियानूस और परम्परागत धारणा को नकारते हैं पर वे रहते कविता की ज़मीन पर ही हैं। उनकी कविता की नूतन परिकल्पना के पीछे परिवर्तित भाव-बोध हैं

यह वो कविता नहीं है
यह केवल खून-सनी चमड़ी उतार लेने की तरह है
यह कोई रस नहीं
ज़हर है—ज़हर

इस रचना-दृष्टि के कारण ये कविताएँ बोध के स्तर पर पिछली कविताओं से अलग जा पड़ती हैं। कैलाश और श्रीकान्त में जहाँ व्यक्ति के अकेलेपन के बोध और मृत्यु-संत्रास का चित्रण है वहाँ दूधनाथसिंह के काव्य में (अपनी शताब्दी के नाम) अकेले न हो पाने की करुण नियति का, भारतीय मानस में व्याप्त 'केआँस' के सन्दर्भ में चित्रण है। यह सही है कि इस 'केआँस' और इसमें पड़े हुए व्यक्ति की करुण-नियति का चित्रण संग्रह की कुछेक कविताओं में ही है। 'यह रस नहीं, ज़हर है,' 'छब्बीसवीं वर्षगाँठ पर', 'मृत्यु', 'उठो न ! ए सुबह', 'जन्म', 'हम मेरी धरती', आदि कुछ ऐसी कविताएँ हैं जिनमें भारतीय मानस के अनुभव में व्याप्त 'केआस' और 'कान्फ्यूजन' की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। कुछ सत्ताधारी हैं जो हमारी छातियाँ पोली कर देते हैं, फिर इन्जेक्ट करते हैं। हमारी हड्डियों में छेद कर देते हैं, फिर उस पर प्लास्टर बाँधते हैं। वे अकेले कमरों में बिजली के कोड़े सटकारते हैं और बाहर गले मिल लेते हैं। वे क्रूर और आदिम हैं, अत्याचारी और नराधम हैं। और सारी की सारी जनता सूखे काठ के मानिन्द खड़ी है मुहबाये और उसके लहू की एक-एक बूँद मुफ़्त में तुल सी जाती है। एक सन्नाटा है और इसी में कवियों और कलाकारों के लिए सेनेटोरियम खुल रहे हैं, सन्तों और महात्माओं के लिए पागलखाने और अर्द्ध विक्षिप्तों के लिए राजगद्दियाँ। कवि को लगता है जैसे वह 'अंधियारे के शून्य में बाँहें फैलाए, मौत के भयानक, काले मेहराबी जबड़े से गुज़र रहा है' और 'चुपचाप उजाले के चिथड़े बीन रहा है।' मृत्यु के संत्रास और बोध की इससे अधिक प्रामाणिक अभिव्यक्ति क्या हो सकती है ? इन पंक्तियों में गहरी मानवीय सम्पृक्ति है और इसी अर्थ में कवि अकेला नहीं हो पाता है। उसे लगता है जैसे देह में सुराख़ हो गया है और भारतीय प्रजातन्त्र एक ढकोसला है जहाँ धीरे धीरे सुलगते जाने का एहसास उसे है। 'हम मेरी धरती' में इस एहसास को, अत्यन्त तीखे व्यंग्य के ज़रिये, गहरे स्तर पर अभिव्यक्ति हैं। सभी कुछ टूट चुका है। ज़िन्दगी के नाम पर सिर्फ़ एक चीख़ बची है.

जिन्दगी के नाम पर एक चीख—
हम जिन्दा हैं, जियेंगे। भीतर एक चिता चूर-चूर
उठो न। मैं हू, अकेला वहा हू

(उठो न । ए सुबह)

यह चीख जिन्दगी की, जिजीविषा की चीख है। इन कविताओं का भावबोध और मूल्य बोध नितान्त आधुनिक है। हां कई स्थलों पर इन कविताओं की भाषा पुरानी है, 'टोन' और मुद्रा रोमैंटिक। संग्रह के शुरू की बहुत सी कविताओं और कुछ अन्य मूल्यवान कविताओं में भाषा की बन्दिश पुरानी और मुद्रा रोमैंटिक है। इस कमी को पूरा करने की कोशिश करती है उनकी विशेषणपरक सौन्दर्यात्मक भाषा। नन्हे-नन्हे विशेषणों या विशेषण निर्भर बिम्बों के द्वारा कवि ने अनुभव सम्प्रेषित किए हैं। 'अधी उदासी' भेड़िया हिफाजत, हूफते वाराह भकोरे, बिगुली बादल, प्रासु नयन, रेशमी लिबास और खखार दिल, ऐसे ही कुछ उदाहरण हैं।

सन् ६७ की कविता से जूझते हुए इतना स्पष्ट हो जाता है कि यह कविता लम्बी छलांगें लगा कर 'अज्ञेय' और अज्ञेय-दल के कवियों से बहुत आगे बढ़ आई है। श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, रघुवीर सहाय, दूधनाथसिंह का काव्य समकालीन संदर्भों से जुड़ा हुआ है। इन म आधुनिकता से संश्लिष्ट होने की चेष्टा लक्षित की जा सकती है। राष्ट्रीय और राजनीतिक परिवेश की चेतना के विभिन्न स्तर इनके काव्य म है। अस्तित्व-संकट की गहरी संवेदना भी इन कवियों में है। लापरवाह ढंग से कथन की प्रवृत्ति सभी में समान रूप से भले न हो, एक अनौपचारिक भंगिमा और भाषा शिल्प का अन्तर रूपान्तर, प्राय, सभी में मिलेगा। पर इन कविताओं से कुछेक खतरों की भी आशंका है। एक, कविता कहीं सामयिक बोध की अभिव्यक्ति मात्र न रह जाय। कला की माग है कि सामयिक बोध आधुनिक बोध में संक्रान्त हो। दूसरे, कविता म एक अजीब 'सिनिसिज्म' की प्रवृत्ति पनप रही है जो कविता और जीवन दोनों को झुठलाने पर तुली है। तीसरा खतरा है कविता को पत्रकारिता के स्तर पर ले जाने और कविता में वक्तव्य देने का। ऐसी कविताओं म भाषा एकदम सपाट हो जाती है, मुहावरा सूचनात्मक या अरचनात्मक बन जाता है और शिल्पहीनता काव्यहीनता की हद छूने लगती है। चौथे, काव्य-भाषा में 'रेटरिक' और बयानबाजी के तत्त्व आ रहे है जो कविता के लिए घातक हैं। इस से कविता में अनावश्यक विस्तार और छद्म आया है।

विकल्प का संकट
और तनावपूर्ण मुहावरा

आज की कविता समकालीन संकट से जुड़ी हुई कविता है। जीने की शर्त और सार्थकता के प्रश्नों ने मनुष्य को जिन चुनौतियों और अस्तित्व की खौलती हुई बेलौस स्थितियों से भिड़ा दिया है, उन्हीं से यह संकट पैदा हुआ है जो आज के प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति का संकट है। यह बाहर का ही नहीं, भीतर का भी संकट है बल्कि बाहर के संदर्भ में भीतर का ही संकट है **रोज सीढ़ियां उतरता हूँ मगर नरक खतम नहीं होता।** इस संकट की अभिव्यक्ति कविता में कई रूपों और स्तरों पर होती रही है और आज भी इसे कविता के धरातल पर पहचानने की कोशिश जारी है। लीलाधर जगूड़ी की कविताएँ (**कविता-संग्रह नाटक जारी है**) संकट की महज़ जानकारी देने के बजाय, संकट की पहचान कराने वाली कविताएँ हैं।

इन कविताओं में जगूड़ी ने आज के मनुष्य की हालत और उसके संकट की अभिव्यक्ति मध्यवर्ग के एक घरेलू, औसत आदमी के चरित्र और मानसिकता को ध्यान में रखकर की है। यह आदमी **कुटम्बधारी निबाहता हुआ** मामूली घरेलू आदमी है जो घाव और पीड़ा ढो रहा है, जिसके लिए घर सबसे बड़ा बोझ हो गया है, अपने को तोड़ने के अलावा जिसके पास कोई चारा नहीं है और आज़ादी के बाद देश-भक्ति जिसके कंधे से सिर टिकाकर सो गई है। वह हर तरह की नैतिकता और राजनीति के विरुद्ध हो गया है। आम आदमी की स्थिति तुच्छ और निरीह हो चुकी है: **'कूटकर जो अलग रख दिया गया / और जो बेहद किचर मिचर है / मैं उसे जहां से**

भी उठाता हूँ / नाटक से बाहर निकालने के लिए / वह वहीं सा फिसल जाता है / इसकी कोई तस्वीर नहीं बन सकती / यह आम आदमी का सिर है। इस आम आदमी की हालत के लिए कवि ने व्यवस्था और शोषण की पद्धतियों को जिम्मेदार ठहराया है **मैं भी तुम्हारे साथ उसी जबडे मे हूँ / जहा एक चढाता है और दूसरा उतारता है / दांत के नीचे।**

यह आम आदमी ही इन कविताओं की धुरी है। इस आदमी की भ्रष्ट और विघटित स्थिति से ही इन कविताओं का प्राथमिक बोध और रचना सम्भव हो सकी है। **पेट और प्रजातन्त्र के बीच यह आदमी दरार की तरह खड़ा है।** प्रश्न हो सकता है कि क्या कवि को स्थिति का मात्र चित्रण अभीष्ट है ? क्या स्थिति कवि के लिए 'चरम' या 'अन्त्य' है या उसके प्रति प्रतिरोधात्मक रुख या नजरिया भी है ? इस सम्बन्ध म कवि की दृष्टि दुविधापूर्ण और परस्पर विरोधी है। एक ओर प्रतिरोध और सघर्ष का रुख है : **अमर्यादित होना / पाप मुक्ति के लिए/ अनिवार्य प्रार्थना है या लेकिन अमर्यादित होना / फिर से सही होने के लिए अनिवार्य प्रार्थना है** तो दूसरी ओर सघर्ष की भाषा मे बडबडाना है जो न क्रान्ति होता है/तनजरिया न विचार, एक ओर कवि की व्यवस्था को तोडने की छट पटाहट है **किस जगह से उधेड़ूँ यह व्यवस्था। किस तरह तोड़ूँ कुछ / कि खडित भाषा एव आवृत्ति** बने तो दूसरी ओर उदासीनता और पराजित भाव **. ये सब खतम करो। और यों ही पडा रहने दो / चरित्र। समाज और खाली गिलास,** एक ओर क्रान्ति मे विश्वास है तो दूसरी ओर मुख्य कायर की भूमिका। प्रतिरोध और पराजय के इन परस्पर-विरोधी रुखो के कारण कवि का कोई 'स्टैण्ड' नही बन पाता। इसका एक मुख्य कारण है कवि द्वारा चालू मुहावरा मे रचना करने की सुविधा का उपयोग। जगूड़ी की कविताएँ, चालू मुहावरों के कारण ही एक-सा प्रभाव नहीं छोडती या उनसे कविता का अपना एक माहौल अवरुद्ध हो जाता है। इनसे स्थितियों की विसगति और विडम्बना की अभिव्यक्ति मे बाधा पडी है। कवि जहा नही इन मुहावरो से मुक्त हुआ है, विसगति या विडम्बना उजागर हुई है : **तो फिर आओ / तमाम चीजों के विरुद्ध प्रार्थना-पत्र लिखें / और प्रमाण-पत्र दिखा दिखाकर बिकें।**

कवि जब स्थितियों के प्रति अपना सरोकार बतलाने के लिए एक ठोस राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक सदर्भ के प्रति सम्बोधित हो जाता है। **(मुझे ज्ञान ने नहीं निर्वाचन ने मारा है × × × मुझे जन्म नहीं नौकरी बदलेगी)** तो उसके लिए काव्य-रचना के दो ही रास्ते रह जाते हैं। एक यह कि परिवेश के दबाव को रचनात्मक स्तरो पर न सह पाने के कारण सीधी-सीधी बडबोली अभिव्यक्ति या नितान्त निजी ढग का उत्तेजक मुहावरा। दूसरे यह कि परिवेश की भ्रष्टता का गहरे वैचारिक स्तरों पर विरोध और उससे उत्पन्न मानसिक सवेदनाओं की बेबाक अभिव्यक्ति। इन दोनो रास्तो के अपने-अपने खतरे हैं। जगूडी ने दूसरे

रास्ते को अपनाया है और धारणाओं, सामान्यीकरणों में उलझ जाने का खतरा उठाया है।

इन कविताओं के रचनातंत्र पर बात करना भी जरूरी है। इस संग्रह की १५ कविताओं में से अधिकांश कविताएँ लम्बी हैं। लगता है लम्बी कविता जगूडी के लिए एक काव्यगत अनिवार्यता है। उनकी काव्य-संवेदना अनेक संदर्भों प्रसंगों को समेटती हुई, काटती-पीटती और रूपान्तरित करती हुई चलती है और कविता अनायास लम्बी हो जाती है। ये जबरन विस्तार पाई हुई लम्बी कविताएँ नहीं हैं बल्कि इनमें गहरा सर्जनात्मक आवेग है। कवि ने लम्बी कविता लिखने की अपनी एक खास शैली विकसित की है, इसमें सन्देह नहीं। इन लम्बी कविताओं के बारे में जो सवाल उठता है वह इनके खास रचनात्मक तरीके का लेकर है। पहली बात जिसकी ओर ध्यान जाता है वह है इन कविताओं के विन्यास में तुक-प्रयोग। तुक के प्रति अतिरिक्त मोह और आग्रह के कारण इन कविताओं में अनावश्यक चमक और उत्तेजना पैदा हुई है **भाषा के पीछे शब्दों को दौड़ाता रहता हूँ / साड़ की तरह / कर्म मैं भी करता हूँ / काड की तरह।** इस तरह की तुकों का प्रयोग जगूडी की लगभग प्रत्येक कविता में सुनिश्चित ढर्रे के रूप में हुआ है। उनकी अन्य युक्ति यह है कि वे कविता के वाक्य-विन्यास में दो मुख्य दिखने वाली पंक्तियों के बीच तीन चार पंक्तियाँ रख देते हैं जैसे 'कुछ लोग देश को गलत समझते हैं और 'सारे देश को गलत समझते हैं' के बीचों-बीच वे चार पंक्तियाँ रख देते हैं **अपनी क्यारी का घेरा / पड़ोस की तितली का फेरा / अवस्था की घास / उखड़ी हुई कीलें/उधार मांगती / धँसती / उग आयी / चुभ आयी / आस पास।** कवि दो धारणात्मक पंक्तियों के बीच में दो या चार या छः पंक्तियाँ रख देता है जो धारणा के स्तर पर सोचने वाले की वास्तविक विडम्बनापूर्ण स्थिति को उजागर कर देती हैं। एक अन्य बात भाषा के सम्बन्ध में—कवि की भाषा में एक प्रतीकात्मक 'कर्व' है जिससे जातीय संस्कारों के अवशेष स्मृति-बिम्बों को उकसाते हैं। **अच्छा लगता है पत्तों का अवश झरना ? अँधेरे में कुँवारी कोखों का भरना ? रोशनी की नयी नयी टहनियों पर / स्याह पंछी का बैठना ? अच्छा लगता है एक मरे हुए सांप को लेकर बीन का बजना ?** जगूडी भाषा को उसके अपने व्यवहार में dislocate या distort नहीं होने देते। वे उसे शिल्प-साधनों से dislocate या distort करते हैं। यही कारण है कि कवि के समानान्तर, भाषा को नए सिरे से सर्जनात्मक रूप में व्यवहार करता हुआ नहीं दिखा सका है।

जगूडी की कविताएँ अनुभव (वाद) की कविताएँ नहीं हैं। इनमें अनुभूति का रोमानी, भावुक रूप नहीं है। इन अनुभूति को विचार ने परिभाषित और विश्लेषित किया है जिससे अनुभूति के नए 'पैटर्न' बने हैं। बाह्य यथार्थ से सीधे-सीधे टकराने और अन्तर्यथार्थ से उनकी संगति-असंगति की खोज के सिल-सिले में अनुभूति और विचार का जो बदला हुआ रिश्ता जरूरी है वह इन कविताओं

मे है। इनमे व्यवस्था का विरोध, भावात्मक या उत्तेजक मुहावरे मे न होकर ऐसे विचार पर टिका है जिससे मानव स्थितियो का बोध हो सके और उस विकल्प की ओर इशारा भी जो स्थितियो के आमने-सामने होने पर बचता है, क्योकि हर मकसद के बाद/खामोश आदमी का सकट समझ का नहीं/विकल्प का है।

× × ×

जगदीश चतुर्वेदी के कविता-सग्रह—इतिहासहता की कविताओ के सम्बन्ध मे सरलतापूवक कुछ भी कह पाना कठिन है। कवि की रचना-प्रवृत्ति को जानने के लिए कवि के रचना ससार को जांचना जरूरी है। इन कविताओ को पहली नजर मे देखने से ही इस ससार का एहसास हो जाता है। यह एक भयावह, आतकपूर्ण ससार है—एक यत्रणा है जो लम्बा आकार लेकर ऊँट की मानिन्द उसके पास / लेट जाती है / आम आदमी उसका सम्बन्ध गल्ले की दुकान से जोडता है / पर वह बोरियत से—और धीरे धीरे यह ससार अपनी असलियत खोलता चलता है—बोरियत एक जोंक है—जोक एक आकर्षण और सभी प्रकार के आकर्षण जगली मकाडयों के जाले और

उसने आकर्षणो से भाग कर एक
सुरग मे अपना डेरा जमाया
दीमको के एक झुड ने उसे वहाँ पा लिया
और वह सुरग छोड कर बाहर भागा

वह प्यारे और लुभावन मूल्यो के ससार से टूट कर भयाक्रान्त स्थितियो मे जीने के लिए अभिशप्त हो जाता है

मैंने एक कबूतर पाला है जो हमेशा नाचता रहता है
एक काली बिल्ली को उसे सौंप कर
मैं भयभीत कातर आँखें देखना चाहता हूँ

उसे लगता है कि उसकी सभी अभिलाषा, सभी पहचान डूब गयी है और उसके जीवन का कोई अर्थ नही रहा। उसे लगता है कि वह बूढे सर्प-सा अपनी मृत्यु की बाट देख रहा है। 'वर्षों से एक भयावह अजदहा शाम होते ही काट देता है नीद की रकाब'। इस तरह भय, अकेलापन, व्यय होते जाने की प्रक्रिया और मृत्यु का एहसास इन कविताओ का केन्द्रीय बोध है और इस बोध को कवि ने आत्मकथात्मक प्रसगो से गहराया है—जिन्दगी के नितान्त निजी प्रसगो को कविता मे गूँथ कर। निजी प्रसगो का कविता मे सृजन भी हो सकता है और उनका निरा इस्तेमाल भी। काव्य-रचना का यह तरीका अगर निजी बाह्यात्मकता तक सीमित रहता है तो वह डायरी के पन्नो से अधिक या 'केस-हिस्ट्री' से बढ कर, कविता के पक्ष मे कोई अहमियत नही रख सकता। यह तरीका अगर भीतर घुमडते भय और आतक का, विसगति और विडम्बना का यानी सपूर्ण भीतरी मराजकता और जटिलता का एहसास करा पाता है तो यह कविता की सार्थकता के लिए काफी समझा जाना चाहिए। कवि ने इन प्रसगों को

निजी बाह्यात्मकता को आन्तरिक अर्थ दिया है। वह उन स्थलों पर सफल है जहाँ वह उस यातना को उभार सका है जिसे भोगने के लिए वह अभिशप्त और अकेला है। पर, व्यंग्य और विडम्बना के माध्यमों के प्रति उदासीन रहने के कारण कवि व्यक्ति-मन की समस्त जटिलता और यातना के विविध रूपों को उजागर कर पाने में असमर्थ रहा है।

इतिहासहंता की कविताएँ एक आक्रामक चरमता को छूती हैं। यह आक्रामकता न तो किसी ठोस बाह्य व्यवस्था को सम्बोधित है न उसे निशाना बनाती है। यह न किसी राजनीतिक तंत्र के प्रति आक्रोश उड़ेलने वाली आक्रामकता है और न निर्मम सामाजिक व्यवस्था को झटका देने वाली। कवि का दावा है कि उसने अतीत को काट दिया है। *वेदर्दी के साथ और रोशनी और हवा और इन्तज़ार* इन सब बातों की निरर्थकता का उसे पता चल गया है। निष्ठा और धर्म के ढोंग में वह जिन्दा नहीं रहना चाहता और प्रेम जैसे अभिशप्त रोग को मुट्ठी में भरकर आग में झोंक देना चाहता है, वह विनाश चाहता है, क्योंकि कीड़ों से मानव पिंडों के लिए उसके मन में कोई दया नहीं। प्रेम करना उसके लिए एक मामूली चीज़ है चाहे वह देश से हो, *या प्रेमिका से। राष्ट्रीय झंडों और भेड़ों सी बढ़ती प्रेमिकाओं को किसी अँधेरे कुएँ में* ढकेल कर वह लम्बी नींद निकालना चाहता है। यही नहीं, वह इतिहास का प्रत्येक चिह्न नकारना चाहता है और तमाम लोगों के सामूहिक निधन का इन्तज़ार कर रहा है। कवि के इन नकारात्मक और ध्वंसपरक वक्तव्यों के पीछे क्या सचमुच कोई दृष्टि है जो मनुष्य की मौजूदा हालत से जुड़ती हो? अतीत, परम्परा, धर्म, निष्ठा, प्रेम, देश का निषेध कविता को बलि चढ़ाये बिना क्या रचनात्मक ज़मीन पा सका है या एक भावमुद्रा के आस्फालन के रूप में व्यक्त हुआ है? ध्वंस और अस्वीकार या निषेध एक गैर रामाटिक भाव है पर यहाँ यह भाव कविता में चरितार्थ नहीं हो पाया है और न किसी तिलमिला देने वाली स्थिति से अपना सरोकार जता सका है। ये कविताएँ समकालीन स्थितियों में साझेदारी का एहसास न दे कर, कुछ ऐसा आभास देती हैं कि कवि स्वयं को उन स्थितियों से ऊपर या बड़ा या असम्पृक्त जता रहा है

> धर्म के नाम पर जीवित हैं चंद नुचे हुए स्तन
> और उनकी सेवा में निमग्न है पूरी की पूरी शताब्दी
> सारा देश
> केवल मैं नहीं

वैयक्तिक अहंकार की यह मुद्रा स्थितियों को न सही संदर्भ और न वजन ही पाने देती है। और यहीं जगदीश चतुर्वेदी की कविताओं के सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या आज की मानव-स्थिति या नियति से इनका कोई सम्बन्ध जुड़ता है? जड़ पड़े हुए देश और मनुष्य के लिए स्पन्दित हो सकने की क्या कोई गुंजाइश रह गयी है? कवि कहता है—मुझे प्रेम नहीं चाहिए, मुझे घर नहीं चाहिए, मुझे

यश नहीं चाहिए ? मुझे केवल एक अनिश्चित घड़ी में / अनायास पा गया एकांत चाहिए और उसके पास मँडराता / एक बूढ़ा सर्प / मैं उस सर्प की खोह में रहना चाहता हूँ / और बाबी के भुतहे एकांत से जहर बटोर कर / तमाम देश के निर्वीय प्रकपन में हलचल चाहता हूँ। मैं मात्र एक, खण्डहर का भुतहा एकांत चाहता हूँ— मात्र एक बियाबान निस्सदह, भ्रष्ट परिवेश के प्रति तीव्र आक्रोश का भाव यहाँ व्यक्ति मन के गहरे स्तरों पर व्यक्त हुआ है। जगदीश की कविता में भ्रष्ट परिवेश की कोई ठोस उपस्थिति नहीं है बल्कि यह परिवेश और वैयक्तिक अर्थ में रूपान्तरित हो गया है जहाँ समाज, संस्कृति और इतिहास से कोई सरोकार नहीं रह जाता। इसी लिए जो क्रूर और आक्रामक रवैया अख्तियार किया गया है, क्या उसे उग्र और भय से निजात पाने का एक तरीका माना जा सकता है ?

सबसे बड़ी दिक्कत पैदा करता है कवि का काव्य-मुहावरा जो अनावश्यक रूप से मुखर है। कविता में तनाव या जटिलता का व्यक्त करने का यह रास्ता नहीं हो सकता कि भावों को अविश्वसनीय अतिशयोक्ति के रूप में व्यक्त किया जाए और शब्दों में हवा भर कर उन्हें गुब्बारे की तरह उड़ने की छूट दे दी जाए। भाव का यह स्फीतिकरण कविता के हित में नहीं होता और अगर इसके साथ कथनगत स्फीति भी आ जुड़े तो कविता, बावजूद सभी कलात्मक उपकरणों के, सफल नहीं हो सकती। जगदीश के काव्य-मुहावरे की यह स्फीति इस बात का प्रमाण है कि ये कविताएँ स्नायुविक उत्तेजना में लिखी गई हैं

हट जाओ मेरे सामने से जमा हुई भीड़
हट जाओ मेरे सामने से अय्याश औरतो

सम्बोधन की यह मुद्रा सारी स्थिति को एक सपाट धरातल पर ले आती है और एक तनावहीन शाब्दिक तनाव में बिखर जाती है। गौर करने की बात है कि इन कविताओं का यह मुहावरा अनिवार्य रूप से उपमान निर्भर, प्रतीकात्मक और बिम्बधर्मी है। वन्य-जगत् से प्राप्त उपमान, प्रतीक और बिम्बगत सामग्री भीतरी हलचल और घबराहट का बोध कराने के लिए लाई गई है। जगदीश चतुर्वेदी के काव्य की भाषिक संरचना में ये उपमान प्रतीक और बिम्ब कविता के आन्तरिक स्तरों से जुड़े हुए हैं। भाषा को ताड़न, अन्तर्ग्रथित या अस्त-व्यस्त करने की ऐसी प्रवृत्ति यहाँ नहीं है जिससे अर्थ के भीतरी स्तर उद्घाटित हों। यह भाषा प्रतीक और बिम्ब को काव्य-भाषा के एक अनिवार्य माध्यम के रूप में इस्तेमाल करती है और उसी हद तक अर्थ प्रसार करती है।

बहरहाल, जगदीश चतुर्वेदी की कविताएँ कवि की एक अलग और विशिष्ट पहचान देती हैं। यह पहचान कवि के नितान्त निजी और विशिष्ट मुहावरे से बनी है। इस मुहावरे से असहमत हुआ जा सकता है, रचना-स्तर पर उसके कारण जो दरारें पड़ी हैं, उनकी ओर इशारा किया जा सकता है, पर इस मुहावरे की विशिष्टता

से इकार नही किया जा सकता। यह मुहावरा घोर वैयक्तिक सदर्भों, प्रसगो और सनको को छूता हुआ जिस भीतरी ससार से साक्षात्कार कराता है, उसे सामने रखे बिना इस का लेखा-जोखा नही किया जा सकता।

●

समकालीन
रचना-संदर्भ

२

कहानी

स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी कहानी

किसी भी देश के लिए स्वतत्रता (प्राप्ति) महज एक घटना नहीं होती यह उस देश के लोगो की अदम्य मुक्ति-कामना, सघर्ष और सामूहिक चेतना का प्रतिफल होती है। स्वतत्रता के पीछे एक लबे सघर्ष का इतिहास रहता है और यह सघर्ष उस देश की मानसिकता को एक नया अर्थ और आयाम देता है। स्वतत्रता वस्तुत, एक बुनियादी मूल्य है जिसके आधार पर समस्त नैतिक, सास्कृतिक और मानवतावादी मूल्यो की इमारत खडी है। भारतीय स्वतत्रता की लडाई स्वतत्रता को एक मूलभूत मानवीय मूल्य मान कर ही लडी गई थी और इसी कारण मानवतावादी मूल्यो से इसका विशेष सरोकार रहा था। इससे एक नई भारतीय मनोदृष्टि विकसित हुई थी जिसकी अभिव्यक्ति साहित्य मे, कई रूपो और स्तरो पर हुई—कही मानवीय, सास्कृतिक मूल्यो के प्रति गहन निष्ठा की भावना के रूप मे, कही सामाजिक आर्थिक स्थितियो, समस्याओ के प्रति जागरूकता के रूप मे, कही वैयक्तिक-सामाजिक धरातलो पर यथार्थ और स्वप्न के सामजस्य के रूप मे और कही सबधो की सतह पर आदर्श और यथार्थ की द्वद्वपूर्ण स्थितियो की अभिव्यक्ति के रूप मे। स्वतत्रता-प्रेरित इस मनोदृष्टि ने साहित्यिक चितन और बोध को, निश्चय ही, बडे गहरे मे प्रभावित किया। इससे उस जमाने की एक नई साहित्यिक अभिरुचि निर्मित हुई जिसके आधार पर स्वातन्त्र्य-मूल्यो और सामाजिक प्रतिमानो को अपेक्षाकृत अधिक प्रतिष्ठा मिली।

स्वतत्रता प्राप्ति से इस अभिरुचि को पुनः एक नया सस्कार, सदर्भ और परिदृश्य मिला जिससे एक नई साहित्यिक चेतना का प्रारभ हुआ। स्वतत्रता के बाद

के चार-पाँच वर्षों मे इस चेतना का कोई स्पष्ट रग रूप नही बन सका था, पर जैसे-जैसे स्वातंत्र्योत्तर स्थितियो का यथार्थ सामने आता गया वैसे-वैसे नई चेतना का स्वरूप भी प्रत्यक्ष और प्रखर होता गया। दरअसल, किसी बडी घटना का साहित्य पर सीधा और तात्कालिक प्रभाव नही पडता। यह प्रभाव साहित्य पर धीरे-धीरे पड़ता है और साहित्यिक दृष्टि का अग बनता है। ऐसा नही होता कि इधर घटना घटी और उधर परिवर्तन शुरू। होता यह है कि इस प्रकार की घटनाए साहित्य को विचार, चितन और सवेदना का एक नया सदर्भ दे देती हैं। नई साहित्यिक चेतना के पीछे यह सदर्भ विशेष रूप से कार्य करता है। यह आकस्मिक नही है कि आजादी के बाद ही हिन्दी मे नवलेखन के रूप मे नया साहित्यिक उन्मेष आया। नई कविता और नई कहानी इसी साहित्यिक उन्मेष की सूचक हैं।

स्वतंत्रता के बाद कहानी को, सुविधा की दृष्टि से, दो खडो मे विभाजित किया जा सकता है—सन् १९४७-६० तक की कहानी और १९६०-७० तक की कहानी। सन् १९४७-५० के बीच लिखी हिंदी कहानी का कोई एक केंद्रीय बोध और चरित्र नही है। इसमे अजीब प्रकार के विरोधाभास हैं। लगता है आजादी के बाद के तीन-चार वर्षो मे कुछ भी विशिष्ट नही लिखा गया। ये कुछेक वर्ष बाद की कहानी के लिए खाद बनते गए। यो प्रगतिवादी किस्म की, मनोवैज्ञानिक ढग की, मध्यवर्ग के आदमी की चालू कहानियाँ इस बीच भी लिखी जाती रही। सन् ५२ ५३ की कहानियो मे ही, सर्वप्रथम, मानवीय दृष्टि का सस्पर्श दिखाई देता है। चीजो को देखने-पहचानने की यह दृष्टि नए सदर्भो की देन थी। यह दृष्टि मानवीय मूल्यो के पुनर्मूल्यांकन की थी जो बाद मे, यानी सन्'५६ मे नई कहानी आन्दोलन के प्रारम्भ होने के साथ मनुष्य को उस के परिवेश मे अन्वेषित करने वाली दृष्टि बनी। इस दृष्टि ने जीवन-यथार्थ के बोध और अभिव्यक्ति की सपूर्ण प्रक्रिया को ही बदल डाला।

यह दृष्टि नई कहानी को पुरानी कहानी से अलगाती है। पुरानी कहानी मे जहाँ विचार या धारणा अथवा सिद्धात विशेष या सामाजिक न्याय की कोई अमूर्त-सी कल्पना रचना पर हावी होने लगती थी वहाँ नई कहानी ने विचार या धारणा या सिद्धात विशेष की अपेक्षा अनुभूत सत्य या भोगे हुए यथार्थ को कहानी मे ग्रहण किया और अनुभव की प्रामाणिकता पर बल दिया। इस से नयी कहानी जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' की कहानी कला से भिन्न हो गयी—और जीवनानुभवो की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी। मनुष्य का अपने परिवेश से एक नया रिश्ता कायम हुआ और इस रिश्ते के भिन्न-भिन्न पहलुओ और रूपो को इस मे उजागर किया गया। पुरानी कहानी मे जहाँ बाकायदा एक 'प्लाट' और चरित्र चित्रण का प्रयास रहता था वहाँ नई कहानी मे 'प्लाट' और चरित्र की जकडबदी काफी हद तक कम हुई।

नई कहानी मे मूल्यगत विघटन या सक्रमण को पारिवारिक या मानवीय संबधो के स्तर पर व्यक्त किया गया है। सम्बन्धो का सरल, सपाट, प्रत्यक्ष रूप जीवन

की विसंगतियों के सामने बेमाने लगने लगा था। इसीलिए नए कहानीकार ने परम्परागत सम्बन्धों के आगे प्रश्न-चिह्न लगाए और उन्हें नए कोण से देखने-समझने और अभिव्यक्त करने की कोशिश की। **चीफ की दावत** (भीष्म साहनी), **यही सच है** (मन्नू भंडारी), **भविष्य के पास मंडराता अतीत** (राजेन्द्र यादव) और **मलबे का मालिक** (मोहन राकेश) आदि कहानियों में बदले हुए सम्बन्धों के जटिल और सूक्ष्म रूपों का मार्मिक चित्रण हुआ है। **चीफ की दावत** में माँ के प्रति पुत्र के सम्बन्ध और व्यवहार का जितना बेबाक चित्र खींचा गया है, वह इस से पूर्व की कहानी में मिलना दुर्लभ है। **यही सच है** कहानी भी स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के एक बिल्कुल भिन्न रूप को उजागर करती है। प्रेम कोई निरपेक्ष सच्चाई नहीं है, सापेक्ष सच्चाई है। निशीथ के प्रति उसकी घृणा प्रेम में बदलने लगती है और संजय के प्रति उसका प्रेम-भाव कृतज्ञता-भाव तक सीमित होने लगता है। उसके लिए निशीथ का स्पर्श भी सच है और संजय का भी। प्रेम-सम्बन्धों का यह चित्रण इस कहानी में अत्यन्त सहज ढंग से, संवेदनात्मक स्तरों पर हुआ है। **भविष्य के पास मंडराता अतीत** में भी सम्बन्धों के टूटने की व्यथा अभिव्यक्त है। पति पत्नी के सम्बन्धों में तनाव आ जाने से विच्छेद जरूरी हो गया। विच्छेद के अनन्तर पति की दारुण मानसिक अवस्था का आकलन इस कहानी में है। दाम्पत्य-प्रेम की अर्थहीनता तो उसने समझ ली, पर बच्ची के लिए अपार स्नेह से उद्वेलित अपने हृदय को कैसे समझाये? लेखक ने सम्बन्धों में व्याप्त हो जाने वाली इस विकलता या पीड़ा की अभिव्यक्ति करुण-मानवीय संस्पर्शों द्वारा की है। **मलबे का मालिक** देश विभाजन के विषय पर लिखी हुई एक महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस में मानवीय सम्बन्धों की पीड़ा, करुणा और क्रूरता एकबारगी साकार हो उठी है। इस कहानी में, ठोस परिवेश के आधार पर, नयी-कहानी की मानवीय दृष्टि उजागर हो सकी है। **खोई हुई दिशाएँ** (कमलेश्वर) कहानी में अजनबीपन और अकेलेपन को तोड़ने के लिए अतीत के प्रेम-सम्बन्धों को पड़ताला गया है। स्व की पहचान के लिए गहरी छटपटाहट इस कहानी में अभिव्यक्त है और इसी से यह कहानी विशिष्ट बन गई है।

नयी-कहानी के अन्तर्गत संक्रान्त मन स्थितियों को विशेष रूप से उजागर किया गया है। जैसे कृष्ण बलदेव वैद की कहानी **मेरा दुश्मन** और मोहन राकेश की कहानी **एक और जिन्दगी** में। **मेरा दुश्मन** कहानी जटिल और उलझी हुई मनःस्थिति को, सधे हाथों से, कलात्मक सूक्ष्मता से उभारती है। **एक और जिन्दगी** में व्यक्ति की संक्रान्त मनःस्थिति का चित्रण है। उसे लगता है जैसे वह जी न रहा हो। क्या यही वह जिन्दगी थी जिसे पाने के लिए उस ने वर्षों तक अपने से संघर्ष किया था? यह चित्रण यहाँ, दाम्पत्य सम्बन्धों की जटिल स्थितियों के विवरणों के सहारे है। ये विवरण फालतू नहीं हैं, बल्कि मन स्थिति को गहराते हैं। कहानी में प्रयुक्त संवेदनात्मक बिम्बों और विवरणों में एक सहज संतुलन है।

नई कहानी आंदोलन के दौरान जहाँ शहरी जीवन के यथार्थ का चित्रण हुआ है। वहाँ ग्रामांचल के यथार्थ की भी बड़ी प्रामाणिक अभिव्यक्ति हुई है। अनुभव की प्रामाणिकता को केवल शहरी संदर्भों तक सीमित रखने वाले नए कहानीकार के लिए ये कहानियाँ एक बहुत बड़ी चुनौती हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी **मारे गए गुलफाम या तीसरी कसम** में ग्राम-जीवन का बड़ा जीवंत और सजीव चित्रण है जो ग्राम-जीवन की करुणा को उभारता है। इसी प्रकार मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, रामदरश मिश्र, लक्ष्मीनारायण लाल, शैलेश मटियानी की आंचलिक कहानियाँ अनुभव के एक अछूते संसार को उद्घाटित करती हैं।

नई कहानी आंदोलन के दौरान कुछेक कहानियाँ यों ही चर्चित कर दी गई। इन कहानियों में नयापन या नई दृष्टि कुछ भी नहीं है। कमलेश्वर की **राजा निरबंसिया** और **अमरकांत की डिप्टी कलक्टरी** कहानियाँ, शैली चमत्कार के बावजूद, पुराने ढंग की अत्यंत साधारण कहानियाँ हैं जिन की संवेदना प्रेमचंदकालीन है।

सन् '६० तक आते आते नई कहानी रूढ़ साँचों में, बंधे बँधाए अनुभूति-पैटर्नों में ढलने लगी थी। जीवन यथार्थ का एक बिल्कुल भिन्न रूप सामने था और नई जीवन स्थितियाँ लेखकों के लिए चुनौती बन गई थीं। इस चुनौती का सामना अकहानी और सचेतन कहानी ने अपने अपने ढंग से किया। अकहानी के व्याख्याताओं के अनुसार इस का सामना मूल्यों का नव-स्थापन करने से नहीं, मूल्यों की निर्मम मृत्यु के प्रति तटस्थता बरतने और यथार्थ के स्वीकृत आधारों का निषेध करने से हो सकता है। सचेतन कहानी के व्याख्याताओं ने इस नई चुनौती का सामना करने के लिए जीवन-मूल्यों को एक नया परिप्रेक्ष्य देने पर बल दिया। उनके अनुसार सचेतनता एक दृष्टि है जिस में जीवन जिया भी जाता है और जाना भी जाता है। एक ही यथार्थ के प्रति ये परस्पर विरोधी प्रतिक्रियाएँ थीं। समकालीन कथा-रचनाओं पर इन दोनों दृष्टियों का प्रभाव देखा जा सकता है।

प्रश्न उठता है कि समकालीन यथार्थ क्या है और इसकी सर्जनात्मक अभिव्यक्ति किस रूप में हुई है? समकालीन यथार्थ को प्रगतिवादियों के समान, समाजवादी ढर्रे पर, किसी सुनिश्चित अर्थ में परिभाषित नहीं किया जा सकता। यह यथार्थ अपनी प्रकृति में जटिल, गहन और बहुआयामी है। किसी एक विचारधारा पर निर्भर रह कर, इस यथार्थ को पकड़ा नहीं जा सकता। इस का अर्थ यह नहीं है कि समसामयिक यथार्थ और बोध के लिए इन की कोई प्रासंगिकता नहीं है। प्रासंगिकता आज पहले से भी अधिक है पर, अब ये उस की मानसिकता और रचनाशीलता में इतना घुल मिल गई हैं कि उन को अलग अलग पहचान करना कठिन है।

समकालीन कहानीकारों ने भावात्मक संबंधों के द्वंद्वपूर्ण यथार्थ (नयी-कहानी में जिस का चित्रण हुआ है) की अपेक्षा महानगरीय संदर्भों में संबंधों की विसंगति,

विडम्बना, जटिलता, तनाव और त्रास को तरजीह दी है। समकालीन लेखकों की सबधों की कहानियाँ मात्र सबधो की कहानियाँ नही हैं, इन सबधो मे आधुनिक व्यक्ति झाक रहा है। पिता (ज्ञानरजन), सीधी रेखाओं का वृत्त (महीपसिंह), दरार (वेद राही), चेहरे (सिद्धेश), अधे दायरे (सान्त्वना निगम) ऐसी ही कहानियाँ हैं।

इधर कुछ ऐसी कहानियाँ भी प्रकाशित हुई हैं जिन मे सूक्ष्म, परतो मे लिपटे हुए आदमी के उलझाव को मानसिक स्तर पर सक्रामित करने की कोशिश की गई है। ये कहानियाँ न उग्र है न सपाट। रोमानी-अरोमानी का भेद भी यहाँ आ कर खत्म हो जाता है। ये कहानियाँ सैद्धातिक ऊहापोहो से मुक्त, कलात्मक आग्रहो के साथ, कहानी की मौलिक पहचान कराने की कोशिश करती हैं। यह कोशिश कहा तक सफल है या असफल, इसे कुछ कहानियाँ ले कर देखा जा सकता है। काशीनाथसिंह की कहानी चोट मे शहर के रेस्तराँ म बैरा का काम करने वाले सचा (ठाकुर) की मन स्थिति का चित्रण हुआ है। इस कहानी की सरचना और उसके कलेवर के भीतर से ऊपरी अर्थ के समानान्तर चलने वाले एक भीतरी अर्थ को व्यक्त करने की कोशिश की गई है। यह जरूर है कि कहानी मे ऊपरी अर्थ का पलडा भारी पडता है और उस हद तक भीतरी बोध के सप्रेषण मे बाधक बनता है। महीपसिंह की कहानी नींद कथा के कलेवर मे से ही दुविधाग्रस्त मन स्थिति को सृजित करती चलती है। इसमे कोई एटी कथात्मक मुद्रा नही है बल्कि कथा की भीतरी सरचना कहानी को मानसिक स्तर पर खोलती चलती है। इसमे न स्थिति का कथन है न चित्रण, केवल सवेदनात्मक सस्पर्श द्वारा पात्र की मानसिकता को उभार दिया गया है 'फिर रात मे वह चौक कर जाग गया था। उसे लगा था उसका हाथ लम्बा होता जा रहा है और लम्बा होकर पास के बिस्तर तक पहुँच गया है।' विजय मोहन सिंह की कहानी ऋषि गहरे मानसिक स्तरो पर चलती हुई कहानी है। कहानी की शुरू की पक्तिया एक जटिल और अन्तर्विरोधपूर्ण मन. स्थिति को सामने रखती है—'मुझे साँस लेने मे तकलीफ हो रही थी और मैं लगातार बुद्धिहीन होता जा रहा था। मैं वही हू—मैंने सोचा, लेकिन इस वक्त सिकुड कर केंचुआ हो गया हूँ। यह बरदाश्त के बाहर है। पर मैं हूँ, वही—साँस लने की तकलीफ और मूढता मे डूबा हुआ।' यह मन स्थिति पूरी कहानी मे फैलती है और कहानी की मूल सवेदना को निर्मित करती चलती है। श्रवणकुमार की कहानी असमर्थ मानसिक असामर्थ्य के एक रूप को उभारने की कोशिश करती है। कहानी के 'मैं' मे वतानो को पाने के लिए जबरदस्त ललक के बावजूद वह उसे पत्नी की अनुपस्थिति मे भी छूने का साहस नही कर पाता। इसका कारण है उसका हारा हुआ भीतरी अहसास: 'दरअसल मेरे अन्दर एक ऐसा आदमी बैठा हुआ है जिसे मैं कभी यकीन नही दिला सकता कि वह हारा हुआ नही है। मैंने उससे काफी जिरह की है लेकिन उस हारे हुए आदमी को कभी आश्वस्त नही कर सका हूँ।' यह असमर्थता कहानी मे मानसिक स्तरो पर खुलती चलती है।

महानगर में एक बड़े पैमाने पर हो रहे परिवर्तनों और यांत्रिकी और यन्त्र सभ्यता के दबावों को सातवें दशक के कहानीकार ने अनुभव किया है। उसके आत्म-जगत् पर इसकी गहरी छाप पड़ी है। उसने भयावह और आततायी बाहरी परिवेश को कहीं अपने भीतर रूपान्तरित होते हुए देखा है। उसकी भीतरी चेतना में मृत्यु भय गहराता चला गया है। इस संदर्भ में काशीनाथ सिंह की कहानी **सुबह का डर** देखी जा सकती है। **सुबह का डर** बाहरी मौत या मौत के भय की कहानी न होकर, मौत के सामने आदमी के आचरण के विघटन की कहानी है। तमाम औपचारिकताएँ निभाता हुआ आदमी कितना नंगा और कमीना है, यह इस कहानी में कथित नहीं, उसके रचाव का हिस्सा है। मौत सामने घटित हो रही है और सम्बन्धी और दोस्त सोचते हैं कि जल्दी से जल्दी मुसीबत टले। वे हमदर्दी दिखाते हैं और मौका पाकर वहाँ से खिसक जाते हैं। इस तरह यह कहानी मौत के बाहरी संदर्भ में आदमी के भीतरी विघटन को उजागर करती है। रवीन्द्र कालिया की कहानी **मौत** मृत्यु-भय की नहीं, मृत्यु के सामने घटित होने वाली आत्मविडम्बनात्मक स्थिति की कहानी है जिसे कहानी के अन्त का मैलोड्रामैटिक अंश काफी कमजोर बना देता है।

समकालीन हिन्दी कहानी आज के जटिल, गहन और बहुआयामी यथार्थ से जूझ रही है। उसकी प्रकृति में अन्तर-बाह्य अभिन्न हो चुके हैं। अनुभव और विचार की टकराहट से जो नयी कथा प्रवृत्ति विकसित हुई है, उससे आज के यथार्थ को पहचानने और उससे साक्षात्कार करने की एक नयी दृष्टि (और दिशा भी) मिल सकती है।

सातवें दशक की हिंदी कहानी

किसी भी साहित्यिक विधा के लिए एक दशक की अवधि महत्त्वपूर्ण हो भी सकती है और ऐसी भी जिसका नोटिस लेना जरूरी न हो। कोई दशक अगर रचनात्मक हलचलों से भरा हुआ हो और उसमें उच्चकोटि का कृतित्व रचा गया हो तो उस दशक के कृतित्व को एक अलग इकाई मानकर जाँचा-परखा जाना उचित ही है। पर, काल प्रवाह में हरेक दशक की एक अलग इकाई और वैशिष्ट्य बनें ही, यह जरूरी नहीं। एक दशक में या १५-२० वर्षों की अवधि में लिखित साहित्य का स्तर ऐसा भी हो सकता है जिसमें पुरानी परम्परागत प्रवृत्तियों का मात्र पिष्टपेषण हो या जिसमें निहायत सामान्य और औसत स्थितियों का चित्रण हो। दरअसल 'दशक' को समीक्षा के आधार रूप में मानना न मानना एक सापेक्ष प्रश्न है, मात्र सुविधा का प्रश्न नहीं। 'दशक' को आधार मानकर किसी रचना-प्रवृत्ति के विश्लेषण में जुटने का कारण केवल सुविधापरकता नहीं है किसी दशक विशेष का विशिष्ट चरित्र (जो उसकी एक अलग इकाई और पहचान बनाता है) इस प्रकार के विश्लेषण-मूल्यांकन को स्वयं उकसाता है। सातवें दशक की कहानी को एक अलग इकाई और आधार के रूप में ग्रहण करने के पीछे हमारा यह विश्वास ही है कि इस दशक का एक विशिष्ट चरित्र है।

सातवें दशक की कहानी अपनी मूल प्रकृति में पूर्व दशक की कहानी से भिन्न है। यह भिन्नता कहानी के ऊपरी रंग रूप तक सीमित न होकर, कहानी के मौलिक स्तरों पर प्रतिफलित होने वाली तात्त्विक भिन्नता है।

यह परम्परागत कहानी से कहानी की मुक्ति है। इस कहानी ने कहानी की पुरानी धारणा को चुनौती दी है और नए अर्थ मे उसकी परिकल्पना की है। यह कहानी परिवर्तित मानसिकता, दृष्टि और सवेदना की कहानी है। सातवें दशक की कथा पीढी ने उन तमाम मूल्यो को चुनौती दी जिन के प्रति पूर्व दशक की कथा-पीढ़ी ललक से भरी हुई थी और उस हद तक भावुक और रोमानी थी। नयी कहानी के जमाने म परिस्थितियाँ भी कुछ इस तरह की थी जो व्यक्ति को मूल्य स्तर पर एक दुविधा म डाले हुए थी। इससे सम्पूर्ण मोहभग नही हो पा रहा था। नए कहानीकार स्थितियो के यथार्थ से तो परिचित थे और उसना उन्होने चित्रण भी किया है, पर कहानिया के अन्त तक पहुँचते पहुँचने वे यथार्थ स्थितियो को सम्भाल नही पाते थे और अक्सर उन्ह अपनी मूल्याग्रही दृष्टि से मडित कर देते थे। इससे यथार्थ प्राय", कल्पित प्रतीत होने लगता था अनुभूति की प्रामाणिकता और भोगे हुए यथार्थ के दावो क बावजूद। पर, सातवें दशक के शुरू होने के साथ ही नयी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियाँ उभर आईं जिनके कारण परम्परावादी मूल्य-ढाचा चरमरा गया। इन कहानीकारो ने कहानी को छद्म मूल्यबोध से (जो अतीत का मूल्य मोह ही था) छुट्टी दिलाई यानी ऐसे अतीत मूल्य जिन्हे हम आदतन कन्धे पर लादे पूरा एक दशक भर ढोते रहे थे इस आशा से कि शायद वे हमारी जिंदगी मे कही काम आ सकें, उनका हमारी जिदगी से कोई नाता न रहा। इसके उल्ट हुआ यह कि स्थितियाँ बद स बदतर होती गई और इन मूल्यो की समसामयिक जीवन म सगति खत्म होती गई। वे अतीत की चीज बन गए। सातवें दशक के कथाकार ने इन अतीत मूल्यो को एकबारगी तिलांजलि दे दी। उनके लिए अपने समय की स्थितिया का तल्ख यथार्थ सबसे बडी सच्चाई बनी जिसका आमना-सामना करना उसके लिए जरूरी हो गया। इस तरह का सामना करने के रास्ते म जो भी मूल्य मुखौटे और कवच आडे आ सकते थे, उसने उन्हें निर्मम होकर उतार फेंका। यह इन कहानीकारो की मूल्या के प्रति विरक्ति या वितृष्णा या लापरवाही की मुद्रा थी, निश्चय ही यह अतीत से, अतीत मूल्यो से मुक्ति की शुरुआत थी। पर यह 'मूल्य' मात्र स या मूल्यवत्ता से से विच्छेद नही था। यह वर्तमान की घिनौनी, क्रूर और भयावह स्थितियो के प्रसग मे मूल्यो की नए सिरे से जाच-पड़ताल और परीक्षण की दृष्टि थी। सबसे पहले कहानीकारा ने सम्बन्धो मे प्रतिफलित हो रह परिवर्तनो को देखना-पहचानना शुरू किया था। इससे सम्बन्धो के नुस्खे चटकने लगे थे और इनके बधे-बँधाए ढांचा मे दरारें पड गई थीं। इससे नयी मानसिकता निर्मित हुई थी जिसम सम्बन्धो के स्थायित्व और शाश्वतता की 'मिथ' टूट गयी।

सातवें दशक की कथा-दृष्टि कोरमकोर यथार्थ पर टिकी है। इस यथार्थ का स्वरूप इतना सरल और प्रत्यक्ष नहीं है कि आसानी से कोई व्याख्या या परि-

भाषा दी जा सके। इसकी प्रकृति इतनी जटिल और उलझावपूर्ण है कि कोई वाद ग्रस्त विचार-ढाचा इसकी समझ और पहचान के लिए अपर्याप्त है।

सातवें दशक के कहानीकार ने मूल्यगत सकट और नए जीवन यथार्थ के परिप्रेक्ष्य म बदले हुए रूपो को देखा और पहचाना। इस तरह ये कहानियाँ सम्बन्धो मे व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता का सूक्ष्म और आतरिक स्तरो पर एहसास कराने वाली कहानियाँ बनी। इन कहानियो के विघटित और तनाव भरे सम्बन्धो का एक छोर आधुनिक व्यक्ति की अस्तित्व चेतना से जुड गया है। ज्ञानरजन की कहानी शेष होते हुए में। इसमे सम्बन्धो के बदलाव और तनाव को, विघटित स्थितियो के सन्दर्भ मे इस ढग से व्यक्त किया गया है कि मनुष्य की वर्त्तमान स्थिति के प्रति भरपूर सकेत प्राप्त होने लगता है 'माँ गुमसुम रहती है और पिता चिडचिडे, पिता से टीनू तक सब अज्ञात परिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं। ये बदली हुई स्थितियाँ हैं जहाँ परम्परागत सम्बन्धो का कोई अर्थ नही रह गया। यहाँ तक कि ये स्थितियाँ पारिवारिक सस्था को कायम रखने वाले जातीय अवशेषो को चुनौती देती प्रतीत होती हैं। इस तरह इस कहानी की, सम्बन्धो की सतह पर बुनी हुई स्थितियाँ, गहरे अभिप्रायो से जुडती चलती हैं। सम्बन्धो म प्रतिफलित होने वाली यह दृष्टि महीपसिह की कहानी कील मे भी है। इस म बदले हुए सम्बन्धो और उन सम्बन्धो म झाँक रहे आधुनिक व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार को देखा गया है। मोना के चरित्र की जटिलता का कारण है उसके डैडी जो उससे कहते रहते हैं कि वह असाधारण है। डैडी उसे असाधारणता का खोल इसलिए ओढाते है कि वह किसी लडके को पसन्द करने की मनःस्थिति मे आ ही न सके। उनके ऐसा चाहने के पीछे एक जटिल चरित्र है। लेकिन मोना इस ग्रथि से मुक्त होकर जीना चाहती है और इस की गिरफ्त से वह तब छूटती है जब उसे एहसास होता है कि उसके व्यक्तित्व मे कोई खास बात नही। जटिल और तनावपूर्ण सम्बन्धो को देखने की यह एक सहज दृष्टि है जो इस कहानी की रचनाशीलता मे एक अन्तरग तत्त्व के रूप मे अवस्थित है। रामदरश मिश्र की कहानी **निर्णयो के बीच एक निर्णय** कथन-स्फीति के बावजूद बाह्य परिवेश से टकराती अन्तःप्रकृति को बखूबी चित्रित कर सकी है। सभी तरह के घटिया लोगो द्वारा घिरा हुआ व्यक्ति अपने सतुलन को कैसे बनाए रखे—अपनी प्रकृति को खो दे या पागल हो जाए? आज के भ्रष्ट परिवेश मे क्या विकल्प बच रहा है? कहानी के अन्त मे कहानी का 'मैं' अपनी अन्त प्रकृति को झुठलाता हुआ सहाय से ज़ोर-ज़ोर से बात करने लग जाता है। इस कहानी मे केवल सम्बन्धो का नही, अन्त प्रकृति के विघटन का भी चित्रण किया गया है। गिरिराज किशोर की कहानी रिश्ता मानवीय रिश्ते के विघटन की कहानी है। मनकी और गिरधारी मे माँ-पुत्र का रिश्ता है भी और नही भी है। माँ और पुत्र के वात्सल्य की पूरी 'मिथ' यहाँ गायब है। सम्बन्धो में न कहीं कृत्रिमता है, न औपचारिकता।

इधर लिखी गई कुछेक कहानियाँ यौन-सम्बन्धों की जटिलता और उनके बदलाव को भी प्रत्यक्ष करती हैं। कृष्णबलदेव वैद ने अपनी कहानियों में महेन्द्र भल्ला के समान सैक्स एडवेंचर का कोई बचकाना और किशोरपरक लटका इस्तेमाल नहीं किया है। सेक्सगत स्थितियों के प्रति उनकी दृष्टि अरोमानी है। उनकी कहानियों में यौन-स्थितियों के जटिल-अन्तरंग रूप उभरे हैं। **सब कुछ नहीं** कहानी में एक ओर पति से अलग हुई औरत है तो दूसरी ओर पत्नी से अलग पड़ा हुआ पुरुष है। दोनों के बच्चे भी हैं। ये ऐसी स्थितियाँ हैं जो उनके लिए कोई विकल्प नहीं छोड़ती। वे जानते हैं कि दुबारा कुछ भी शुरू नहीं किया जा सकता। इस कहानी में, यौन-संबंधों का नहीं, *यौन-सम्बन्धों के दौरान पैदा हो जाने वाली मनोवृत्ति का महत्त्व है जो* आदमी को अकेला, आत्मपराया और पीड़ित बना जाती है। निरुपमा सेवती की कहानी **टुच्चा** में भी सम्बन्धों में प्रतिफलित हो रहे आज के आदमी को पकड़ने की कोशिश झलकती है। जीवनगत स्थितियाँ प्रेम-सम्बन्धों को एक सुविधा से अधिक अहमियत नहीं देती। पर, प्रेम-सम्बन्धों में व्याप्त यह सुविधापरकता इस कहानी में किसी गहरी या बुनियादी छटपटाहट द्वारा सन्दर्भित नहीं है।

इस दशक की कहानी बाहर से भीतर की ओर सचरण करती गई है। समकालीन लेखक यथार्थ के प्रति मात्र प्रतिक्रिया नहीं करता बल्कि यथार्थ उसके आभ्यन्तर में जिस रूप में रूपान्तरित होकर सृजित होता है, उसी का उसके लिए महत्त्व है। यथार्थ का यह आभ्यन्तरीकरण मानव स्थितियों से अनिवार्यतः जुड़ जाता है। काशीनाथ सिंह की कहानी **अपने लोग** इस दृष्टि से विशेष महत्त्व की है। इस कहानी में मध्यवर्ग के बाबू की मन:स्थिति का बड़ी बेबाकी से चित्रण किया गया है। वह जानता है कि उसके भीतर की आवाज़ बिलकुल मर चुकी है। वह अपनी अन्तरात्मा और स्वाभिमान को जगाना भी चाहता है :

> 'दामू, मेरे भीतर कोई चीज़ है जो मर गयी है'
> 'और तुम क्या चाहते हो'
> 'मैं चाहता हूँ कि वह जिन्दा हो'

पर, वह चीज़ जिन्दा नहीं हो पाती। वह भीतर से इतना पोला और पिलपिला, जड़ और स्पन्दनहीन हो चुका है कि न उसकी अन्तरात्मा जगती है और न स्वाभिमान। घिसटते हुए, घिघियाते हुए, अपमानित होते हुए, जिन्दगी बिताने की उसकी आदत उसकी स्थिति को निरीह और दयनीय बना देती है। दफ्तरी बाबू की यह स्थिति एक आम स्थिति है लेकिन लेखक इसे आधुनिक आदमी की अस्तित्व स्थिति के रूप में अभिव्यक्त करने में सफल रहा है। धर्मेन्द्र गुप्त की कहानी **अपंग सत्ता** एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो अपने परिवेश की भ्रष्टता के विरुद्ध लड़ता हुआ पाता है कि वह अपनी मान्यताओं के विरुद्ध व्यवहार करने पर मजबूर है। उसे लगता है वह स्वेच्छा से कुछ भी करने में समर्थ नहीं और अपने ही बुने जाल में स्वयं उलझ कर रह गया है। वह

दूसरों को न्याय दिलाने की खातिर अपनी निजता या अस्मिता खो बैठता है। एक गहरे खाकी रंग से उसकी चेतना आक्रांत हो जाती है। उसकी यह स्थिति हर व्यक्ति की अपंग स्थिति का बोध कराने में समर्थ रही है। बदीउज्जमां की कहानी **चौथा ब्राह्मण** भयावह मानवीय स्थिति को सहज ढंग से उभार सकी है 'मेरी ट्रेजेडी यह है है कि मैं अपने उन्माद को महसूस भी करता हूँ, लेकिन खुद को इस से मुक्त नहीं कर सकता। शायद यह ट्रेजेडी सिर्फ मेरी ही नहीं, आज के हर इंसान की है।··· मैं जानता हूँ, इस दौड़ का कोई अन्त नहीं है। लेकिन पंचतंत्र की एक कथा के चौथे ब्राह्मण की तरह हम तांबा, चांदी और सोने की खानों को छोड़ कर हीरों की खान की तलाश में भागे जा रहे हैं और, हमारे सिरों पर एक-एक चर्खी घूम रही है।' दरअसल चौथा ब्राह्मण अपने सिर पर घूमती हुई चर्खी के साथ आज हम सब की सब से बड़ी वास्तविकता है। अपने स्वत्व की पहचान के लिए इस वास्तविकता की पहचान बहुत जरूरी है। इस स्वत्व को पहचानने की छटपटाहट प्रमोद सिनहा की कहानी **बैठा आदमी** में भी है। इस में अकेलेपन और निष्क्रियता की स्थितियों को अस्तित्व के एक बुनियादी प्रश्न के रूप में उठाया गया है। स्थितियाँ जैसी हैं, उन में आदमी निःसहाय और निहत्था होता जाने पर मजबूर है। उसे लगता है अकेलापन उसे टुकड़ों में बाँट रहा है और हरेक टुकड़ा सपूर्ण आंगिक-सरचना का विरोधी हो उठा है और एक स्वतन्त्र इकाई के रूप में पनप रहा है 'वारण सोच रहा था कि अकेले रह कर उस ने अब तक लगातार आत्महत्या की है। ऐसी आत्महत्या जिस में मरने की योजना कई टुकड़ों में सम्बद्ध हो और हर बार कम से कम अपने ही किए पर सोचा जा सके।' एक चीख से घिरा हुआ वह छटपटाता है सक्रिय होने के लिए, कुछ करने के लिए पर उससे कुछ नहीं हो पाता निढाल होने के सिवा।

सातवें दशक में मानवीय अस्तित्व की यातना का एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ राजनीतिक है या अन्य कोई तंत्र या व्यवस्था। ऐसी कहानियों का स्वर व्यवस्था-विरोधी है। आक्रोश या विद्रोह ऐसी कहानियों में मुखर है। ये कहानियाँ, अधिकतर, तात्कालिक उत्तेजना में लिखी गई हैं। इनमें प्रजातंत्र या व्यवस्था के प्रति चालू किस्म का आक्रोश उंडेलने का ढंग ज्यादातर, अपनाया गया है। कहीं-कहीं (दूधनाथ सिंह की कहानियों में) राजनीतिक बोध को इस कदर अमूर्त्त कर दिया गया है कि कुछ भी अटकल लगाने की सुविधा ली जा सकती है। इन कहानियों के सम्बन्ध में सब से बड़ा खतरा यह है कि ये कहानियाँ प्रतिक्रिया (प्रतिक्रियावादी नहीं) कहानियाँ या अखबार का इस्तेमाल करने वाली कहानियाँ बन कर न रह जाएँ जब कि जरूरी यह है कि ऐसी कहानियों में सवेदनात्मकता के साथ-साथ बेचैन कर देने वाला विचार तत्त्व हो। अशोक अग्रवाल की कहानी **प्रजातन्त्र** तात्कालिक उत्तेजना में रचित होने के कारण व्यवस्था या प्रजातंत्र के प्रति आक्रोश उंडेलने वाली कहानी बन गयी है। आक्रोश का स्वर सतीश जमाली की कहानी **अर्थतंत्र** में भी है। कहानी का 'वह' देश

को कई बार गदा और सड़ा हुआ मुल्क कहता है। वह वर्षों से इस सारी व्यवस्था से घृणा करता आया है क्योंकि इस व्यवस्था के चलते 'एक-एक व्यक्ति की चमड़ी में कीड़े घुस गए हैं और वह अपाहिजों की तरह उनकी मार सहन करता हुआ दौड़ता जा रहा है।' कहानी की मुद्रा यथास्थिति को बदलने के तेवर में पूरे तन्त्र को चुनौती देने वाली है पर संवेदनात्मक स्तर पर यह कहानी व्यवस्था के सामने ढहते हुए आदमी की कथा है। यह आदमी इब्राहीम शरीफ़ की कहानी दिग्भ्रमित में भी है। इस कहानी में डरे हुए आदमी के अहसास को और विकल्पहीनता की उसकी स्थितियों को क्रूर राजनीतिक सन्दर्भ में उजागर किया है। राजनीति से सम्बद्ध लोग उसे चारों ओर घेरे हुए हैं और वह पाता है कि उसके लिए कोई रास्ता नहीं रह गया है। आम आदमी यह जानता है कि इनसे छुटकारा तभी मिल सकता है जब इन सभी की खाल उधेड़ी जाए पर तभी कहानी के 'वह' को एहसास होता है कि वह कहीं से इतना पोला हो गया है कि जलूस तो जलूस वह खुद को भी रगड़ने की हालत में नहीं है। इसी तरह रमेश उपाध्याय की कहानी मदद भ्रष्ट व्यवस्था में आदमी की निरीह स्थिति को व्यंजित करती है। स्वेच्छा से कुछ भी करना उसके वश में नहीं। सभी कुछ जान लेने के बाद, अन्याय और अत्याचार के कारणों का पता चल जाने पर भी आदमी क्या कर सकता है? 'मैं खून देखता हूँ और न मुझ में इन्सानियत भड़कती है, न मर्दानगी। मुझे सिर्फ़ सिगरेट की तलब लगती है। और मैं पाता हूँ कि मेरी माचिस अभी तक गीली है।' बेवजह मरते हुए आम आदमी के लिए सार्थक हो पाने की कहीं कोई गुंजाइश नहीं दिखती। विभुकुमार की कहानी सही आदमी की तलाश भी गलत व्यवस्था में पिस रहे आम आदमी की यातना को उभारती है। 'एक आदमी गलत व्यवस्था के, गलत लोगों के लात घूसों से पीटा जा रहा है और भीड़ देख रही है।' सही आदमी जेल में सड़ता है या पिटता है। उसके लिए कोई विकल्प नहीं। राजनीतिक चक्र उस भीतर तक काटता चला जाता है। सुशील शुक्ल की कहानी कगार इन कहानियों से इस स्तर पर अलग और विशिष्ट है कि इस में व्यवस्था में पड़े हुए आदमी की जटिल स्थिति का बोध कराया गया है। यह कहानी व्यवस्था के संदर्भ में आक्रोश की नहीं, विडम्बना की कहानी है। कहानी के शुरू में लड़का किसी कगार या कट कर गिरना देखना चाहता है और लड़की को इस से डर लगता है। पर, कहानी के अन्त में लड़की भी किसी कगार का कट कर गिरना देखना चाहता है। उसे लगता है कि व्यवस्था से विरोध करने की बात तो दूर, हम कुछ भी नहीं कर सकते। 'लड़का जानता है कि व्यवस्था नशीली-नींद सो रही है। उसे जगाने के लिए एक विस्फोट की आवश्यकता है।' पर, व्यवस्था के सामने वह स्वयं को निरीह और लाचार पाता है। इन कहानियों में निरीहता और लाचारी का एक साँझा संवेदनात्मक बोध है जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। पर, इस बोध के पीछे तिलमिला देने वाले विचार या विचार की पैनी-धार का अभाव है।

सातवें दशक के बीतने न बीतते एक नयी कथा-पीढ़ी तेजी से उभर आई है। इस कथा-पीढ़ी के पास नयी जीवन-स्थितियों से उत्पन्न ताजी और तीव्र संवेदनाएँ हैं और तेज-तर्रार, चीजों को काटती चलने वाली अभिव्यक्ति-शैली है। फिलहाल, इस पीढ़ी के पास न कोई नारा है, न किसी आन्दोलन का बल, न कोई मुखौटा। यह पीढ़ी सिद्धांतों और धारणाओं के मुलम्मे को चीर कर, रचना की मौलिक पहचान करने की कोशिश कर रही है।

●

समकालीन कहानी : यथार्थ और अस्तित्व-बोध

हिन्दी-कहानी पिछले आठ-दस वर्षों में, समय की निर्मम सच्चाइयों और चुनौतियों के आमने सामने हुई है और क्रूर और नंगे यथार्थ से जुड़ कर अस्तित्व-बोध की स्थितियों और बुनियादी प्रश्नों को उठा रही है। समकालीन कथा-बोध की यही धुरी है जिसके गिर्द मानवीय स्थितियों के विभिन्न मूड्स रूपाकार धारण करते रहते हैं। महत्त्वपूर्ण है मानवीय-स्थितियों के यथार्थ का साक्षात्कार। स्थितियों या संबंधों के मात्र चित्रण से न तो कहानी आधुनिक बनती है और न ही समकालीन। इसके लिए जरूरी है कि चित्रण से आगे बढ़ कर यथार्थ के गहरे और जटिल स्तरों में पैठा जाय और रूढ़ यथार्थवादी ढंग से परे हट कर या किसी आग्रह से मुक्त होकर, आधुनिक व्यक्ति की अस्तित्व-चेतना से सम्बद्ध स्थितियों का बोध कराया जाय। समकालीन कहानी में जो भयावह यथार्थ व्यक्त है, वह अधिकतर अस्तित्व-संकट की पहचान कराने वाला और उसकी छानबीन करने वाला है। जटिल प्रकृति वाले इस यथार्थ से सीधे टकराये बिना आज की कहानी नहीं बन सकती।

सवाल हो सकता है कि समकालीन कहानी के यथार्थ से सीधे टकराने और रू-ब-रू होने की प्रक्रिया क्या है? और यह प्रक्रिया रचनात्मक रूप में किन स्तरों पर उद्-घाटित हुई है? इस संबंध में पहली बात तो यह है कि समकालीन कहानी में यथार्थ को आकलित और चित्रित

करने वाली दृष्टि सीधी और सरल न होकर जटिल और बहुआयामी है। इसमे यथार्थ को ग्रहण करने या उसके प्रति प्रतिक्रिया करने वाली किसी व्यवस्थित दृष्टि का अभाव है। दरअसल, हिन्दी कहानी यथार्थ को व्यवस्थित दृष्टि से पकडने के परिणामो को भुगत चुकी है। इसीलिए समकालीन कहानी मे ऐसी दृष्टि का प्रायः, निषेध है जो किसी परम्परागत मूल्य-परिपाटी का अग हो। समकालीन कहानी केवल रचनाशीलता के स्तर पर यथार्थ से जुडती हुई अस्तित्व-सवेदना को गहराती है। *मार्क्सीय, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और मूल्यपरक दृष्टियाँ अब आरोपित न* रह कर उसकी मानसिकता का अग बन चुकी हैं।

समकालीन कहानी मे यथार्थ के उस पक्ष को उभारा गया है जो मानवीय नियति के भयावह सन्दर्भो म अस्तित्व की बुनियादी समस्याओ से जुडा हुआ है। मुक्तिबोध की कहानियाँ, पहली बार, यथार्थ के इस पक्ष मे सीधे टकराती है। प्रगतिशील और मनोवैज्ञानिक मताग्रहो मे रूढिग्रस्त और ओटी हुई मानसिकता का शिकार हुई हिन्दी कहानी को जिन्दगी की वास्तविकताओ के करीब ला कर मुक्तिबोध ने कहानी को अनुभूति का नया आयाम और नया कथा-मुहावरा दिया। कहानी-सरचना की कई खामिया और तटस्थ दृष्टि के अभाव के बावजूद, मुक्तिबोध की कहानियाँ सुनिश्चित और बधे-बँधाए फ्रेमो को तोडती हैं और एक आन्तरिक बातचीत के आधार पर अस्तित्व की तीखी सवेदनाओ को अभिव्यक्त करती हैं। उनकी कहानियाँ आधुनिक सभ्यता और आधुनिक व्यक्ति की बहुत गहरे मे 'स्क्रीनिंग' करने वाली कहानियाँ हैं। क्लॉड इयरली एक ऐसी ही कहानी है। क्लॉड इयरली अन्तरात्मा की बेचैनी और यातना का प्रतीक या अणु युद्ध का विरोध करने वाली आत्मा की आवाज का दूसरा नाम है। "क्लॉड इयरली हमारे यहाँ भले ही देह रूप मे न रहे लेकिन आत्मा की जैसी बेचैनी रखने वाले लोग तो यहाँ रह ही सकते हैं।" यह कहानी एक साथ कई स्तरो पर अन्तरात्मा और अस्तित्व के सकट को उजागर करती है। मन मस्तिष्क मे एक भीतरी पागलखाना है जहाँ उच्च, पवित्र और विद्रोही विचार और भाव पडे रहते हैं या समझौतावादी पोशाक पहनकर सभ्य और भद्र बन जाते हैं। अन्तरात्मा का पक्ष लेने वाले आधुनिक व्यक्ति के सामने कोई रास्ता नहीं है या हर रास्ता पागलखाने की ओर जाता है। आधुनिक सभ्यता के इस सकट ने आदमी को एक नये सकट के सामने ला खडा किया है और वह है आचरण का सकट। इस सकट की अनेक विरोधाभासपूर्ण भयावह परतो को मुक्तिबोध ने अपनी कहानी विपात्र मे उघाडा है। मुक्तिबोध की अन्य कहानियो मे भी अस्तित्व के ऐसे ही तीखे और ज्वलत प्रश्न हैं। उनकी कहानियो मे घटनाओ और प्रसगो के लिए गुजायश नही है। वे स्थितियो को सवेदना की तेज धार से काटते हुए आज के आदमी की भीतरी पीडा और मूलभूत आन्तरिक सकट तक पहुँच जाते हैं।

जीवन के क्रूर यथार्थ के भीतर से उभरी हुई, अस्तित्व सकट के जबरदस्त आघात देने वाली ऐसी कहानियाँ हिन्दी मे बहुत कम लिखी गयी है। समकालीन कहानीकारो का एक दल सबधो के जालो को बुनता और तानता रहा है और इसी मे अपना महत्त्व मानता रहा है। इन लेखको की सबधो की कहानियाँ, प्राय, यथार्थ की ऊपरी सतह से जुडी होने के कारण यथार्थ की भयावहता का कोई गहरा अहसास नही करा पातीं। ऐसी कहानियो म सबधा और स्थितिया के विवेचन और ब्यौरे तो हैं पर सबधो और स्थितियो म निहित अस्तित्व की चुनौतियाँ, प्राय, अनुपस्थित हैं। रोमाटिक किस्म की सबधा की प्रतिक्रिया कहानियाँ लिखने वाले ज्ञानरजन और दूधनाथसिंह इसी लिए जल्दी चुक गए और अपनी ही रचना-रूढियो के शिकजे म ग्रस्त होकर 'कन्डीशन्ड' हो गए।

इस से यह आशय नही कि सबधो की कहानियाँ अच्छी या विशिष्ट नही बन सकती। आखिर सबधो के धरातल पर ही समय की सच्चाइयाँ रूप ग्रहण करती हैं। यह सही है कि समकालीन कहानी मे उलझे हुए पेचीदा सबध सूत्रो के लिए कोई जगह नही है, तो भी कहानी के रचना-तत्र मे सबधो की सन्दर्भ-भूमिका रहती ही है। निरर्थकता, सत्रास, अजनबीपन और अकेलेपन की बडी-बडी बातें की जा सकती हैं, लेकिन ये बातें रचनात्मक स्तर पर कितनी प्रामाणिक और प्रासगिक है, इसे सम्बधो के सूक्ष्म और आन्तरिक धरातल पर आँका जा सकता है। सबधा म व्याप्त तनाव, विघटन और जटिलता का चित्रण महत्त्वपूर्ण हो सकता है पर इस चित्रण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है यह बोध कराना कि तनाव, विघटन या जटिलता की सवेदना आज के आदमी की अस्तित्व स्थिति से कहाँ तक जुडी हुई हैं और उसका सर्जनात्मक रूप क्या है? देखना यह है कि यथार्थ के सलीब पर टँगी सवेदना अन्तरात्मा या अस्तित्व के सकट को कितनी गहरा रही है और उजागर कर रही है।

इधर कुछ ऐसी कहानियाँ लिखी गयी हैं जिनमे तनावपूर्ण सबधो का बोध कराया गया है। ये कहानियाँ कोरी सबधो की कहानियाँ न होकर, सबधो मे भँसे रह आधुनिक व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार की कहानियाँ है। रमेश बक्षी की कहानी पिता दर पिता, बावजूद रोमाटिक कथा-सस्कारो के, पीढ़िया के बीच के फासले और सघर्ष को उभारती है। इस कहानी मे पिता-पुत्र के सम्बन्धो, सबधो नही, असबधो और पीढी दर पीढी रूपान्तरित होते चेहरो और 'आर्च टाइपो' का रचनात्मक स्तर पर बोध कराया गया है। इस कहानी मे सबधो की अभिव्यक्ति बौद्धिक या एकेडेमिक स्तर पर न हो करके, सवेदनात्मक स्तर पर है और इसम युवा पीढ़ी की अराजक स्थिति का (जो उत्तरोत्तर एक जीवन-पद्धति म ढलती हो रही है) का बोध कराया गया है। रामदरश मिश्र की कहानिया मे यद्यपि विघटित सबधो का भावात्मक ढग के जरिये बोध कराया गया है, तो भी कुछेक कहानिया मे गाव

और शहर की सम्रान्त चेतना का यथार्थ भी उभरा है जो अस्तित्व-पीडा को गहराता है। चिट्ठियों के बीच कहानी मे निजी और गांव की परेशानियों के बीच फसे एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण है जो 'घर से, गाँव से जुडा हुआ है, समझ से नही, एक आन्तरिक राग लय से।' शहर मे रहते हुए उस पर परिवार की जरूरतो के, गाव मे रह रहे अपने आत्मीय जनो के और परिस्थितियो के दबाव हैं। ये दबाव भावात्मक सबधो को तनावपूर्ण बना जाते है। इस कहानी मे सबधो का तनाव और द्वद्व सवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त है। यह लेखक की रागात्मक रचना-दृष्टि को सूचित करता है। इस दृष्टि को लेखक के आत्मीय अनुभव निर्धारित करते है जिनके मूल प्राथमिक बोध से लेखक स्वय को काट नही पाता और उस हद तक तटस्थ नही हो पाता। उनकी कहानियो मे इसीलिए यथार्थ का रागात्मक पुनर्सृजन और एक गहरी सम्पृक्ति का भाव है। इस ग्रथ मे उन की कहानियो का मूल स्वर समकालीन कथा-बोध से थोडा भिन्न भी है और जितना भिन्न है उतना विशिष्ट भी।

यौन-सबधो की जटिलता और उनके बदलाव की स्थितियाँ भी कुछ कहानियो मे व्यक्त हुई है। इन कहानियो मे यौन जीवन की विस्फोटक स्थितियो का दबाव बडा साफ है। कृष्णबलदेव वैद की कहानी त्रिकोण, महीपसिह की कहानी गध और सान्त्वना निगम की कहानी बीतते हुए इस कथन का पुष्ट करती है। त्रिकोण कहानी मे पति, पत्नी और प्रेमी का बिल्कुल नया त्रिकोण है, क्योकि प्रत्येक की मन-स्थिति बदली हुई है। सबधो का यह बदला हुआ रग, अह की खोल को बनाए रखने और उसी मे सिमट जाने का है। इस कहानी मे सबधो के बदलाव की लेखकीय दृष्टि स्थितियो के यथावत् स्वीकार की है जो चित्रण से आगे नही बढ पाती। महीपसिह की कहानी गध कोरे चित्रण से आगे बढती है। इस मे यौनानुभवो का रचनात्मक और सश्लिष्ट रूप मिलता है। यौनपरक विस्फोटक स्थितियाँ सबधो मे जो तनाव और हताशा भर देती है, उसका बोध यह कहानी कराती है। तनाव और हताशा बद्धमूल सुरक्षा-भाव से टकराते और जूझते हैं और यातना को तीव्र कर जाते हैं। सान्त्वना निगम की कहानी बीतते हुए मे सबधो की पीडा का रोमानी हैंग ओवर नही है। इस कहानी मे लगावहीन सबध या लवलैस सैक्स अथवा भावुकताविहीन होने जाने की प्रक्रिया मौजूद है।

समसामयिक यथार्थ केवल वैयक्तिक या केवल सामाजिक नही। इसे भीतरी या बाहरी खानो मे नहीं बाँटा जा सकता। व्यक्ति और समाज यहाँ परस्पर गुथे हुए है और मानवीय अस्मिता और अस्तित्व को गहराते है। यह यथार्थ महानगर की सकटपूर्ण स्थितियो से बना है। समकालीन कहानीकार ने इस यथार्थ को अस्तित्व-सकट की मानवीय स्थितियो से जोडने की कोशिश की है। इन कहानियो के सबध मे पहली बात तो यह कि महानगर के जिन सन्दर्भों को लेकर कहानी की नीव रखी गयी है, वे वास्तविक भी हैं या नही। अक्सर होता यह है कि लेखक महानगर का

एक 'फेक' या कल्पित संसार रच लेते हैं जिनका महानगर के वास्तविक सन्दर्भों से कोई वास्ता नहीं होता। ऐसी कहानियों में लेखक का कस्बाई-बोध और ग्राम्य-संस्कार हावी रहता है। शहरी यथार्थ का एहसास कराने के लिए तटस्थ और निर्मम दृष्टि जरूरी है जो नगर-जीवन और नगर-संस्कृति की विविध प्रक्रियाओं की गहरी समझ और बोध पर आधृत हो। शहर में रह रहे व्यक्ति की चेतना पर दोहरे-तिहरे दवाव हैं। समकालीन कहानीकार ने इन दबावों और इन से पैदा हुई विसंगतियों-विडम्बनाओं का बोध अपनी कहानियों के माध्यम से कराया है।

यांत्रिकी के भयावह संदर्भों में आदमी अस्तित्व-संकट की लड़ाई में निहत्था ही जूझ रहा है। यह जूझना कहीं भी आरोपित मूल्यों से जुड़ा हुआ नहीं है, तो भी मानवीय अर्थ में जुड़ने की सापेक्षता में यह मूल्यवत्ता का ही एक स्तर प्रतीत होता है। योगेश गुप्त की एक कहानी है **एक्सलोजर** लें। इस कहानी में यन्त्र-दैत्य के पंजे में पड़े आदमी की निरीहता, भय और घुटन का निर्मम चित्रण किया गया है। कारखाने में काम करने वाले मशीनमैन घनश्याम की चेतना पर एक गहरा दवाव है। ऊँचे ऊँचे मकानों से घिरी एक अन्धी गली है जिस में वह रहता है। बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं। 'उसका दम घुटने लगा।' सामने आसमान को छूती इमारतों की एक कतार। पीछे आसमान को छूती हुई इमारतों की कतार।

> तो क्या वह कैद है ?
> बाहर नहीं जा सकता ?
> पर साढ़े छः बजे हैं और कारखाने तो उसे जाना ही है।'

इस कहानी में लेखक ने आज के आदमी की बेवसी, लाचारी, यातना और अनिश्चय का बोध प्रतीकों और बिम्बों के सर्जनात्मक इस्तेमाल द्वारा किया है। 'एक कीकर का पेड़ है। ऊँचा घना। उसके नीचे एक खाट पर तीन जने बैठे हैं। एक दूसरे की तरफ मुँह किये, एक दूसरे को ताकते हुए। तीनों के हाथों में खरबूजों के टुकड़े हैं। वे चाकू से काटे नहीं गए हैं। हाथ से तोड़े गए हैं। खाट के नीचे बहुत सारे बीज और छिलके पड़े हैं।' घनश्याम को लगता है कि ये लोग डाकू हैं। यह बिम्ब सारी कहानी में हॉट करता रहता है।

महानगर में रहने वाले व्यक्ति के लिए मृत्यु या मृत्यु भय एक सामान्य अनुभव है। रोज एक्सीडेंट होते हैं और लोग मरते हैं। इन दुर्घटनाओं के प्रति शहर का व्यक्ति ऊपर से उदासीन या असम्पृक्त प्रतीत होता है। पर उसकी भीतरी चेतना में मृत्यु-भय गहराता रहता है। महीपसिंह की कहानी **पारदर्शक** में जीवन की भयावह स्थितियों का बोध कराने का प्रयास किया गया है कहानी के 'वह' और उसकी पत्नी भाषी के माध्यम से। कहानी का 'वह' तनाव को बाहरी और भीतरी दोनों स्तरों पर सहता है, पर उसकी तनावपूर्ण मन स्थिति संबंधों की जटिलता का एहसास नहीं कराती। यह अहसास भाषी कराती है। भाषी तनाव में जीती है और तनाव में

सहज हो पाने की संवेदनात्मक प्रक्रिया से गुजरती है। दुर्घटना मे किसी की मौत की खबर सुनकर भाभी अत्यन्त भयभीत हो जाती है। भयाक्रान्त मन स्थिति मे वह अपने पति का उसके होठो के सान्निध्य से पी जाना चाहती है। यहाँ उसके मानसिक तनाव का बिम्ब उभरता है। तृप्ता के पति तनेजा साहब की एक्सीडेंट मे मौत की खबर पाकर तो वह घबडा जाती है। तनाव की तीव्रतम स्थिति म वह बेतहाशा अपने होठो को उसके होठो से रगडती है—"अपने दोनो हाथो से उसने उसका चेहरा जैसे जकड लिया था जैसे वह उसका पति नही, एक मामूली सा जीव था, जो किसी प्रेत के हाथो दबोच लिया गया था।' जाहिर है मृत्यु-भय का यह कोरा चित्रण न होकर, भयाक्रात मन -स्थिति म सहज हो पाने की वांछा लिए है। तनाव मे सहज हो पाने की दृष्टि यहाँ रचना के भीतर से उभरी है और अस्तित्व की सही पहचान कराती है। गगाप्रसाद विमल की कहानी **विध्वस** बाहर से भीतर की ओर छलाँग लगाती है। इस कहानी मे मृत्यु-भय को सवेदना की अन्तरिक्तता के स्तर पर अभिव्यक्त करने की कोशिश की गयी है। यह स्वय म एक सर्जनात्मक तरीका हो सकता है बशर्ते सवेदना खरी और सच्ची हो और रचना विधान म अमूर्त किस्म की चुस्त फिकरेबाजी न हो। इस कहानी के शुरू मे, अन्त मे और बीच म, जिस भयानक चिट्ठी का उल्लेख है, वह एक अमूर्त रहस्य ही बनी रहती है। केवल इतना पता चलता है कि युद्ध के दौरान जो भीषण विनाश हुआ उससे कहानी के 'मैं' की सवेदन-क्षमता खत्म हो गई। अब उसे आसक्ति और मोह मूर्खता लगती है और राजनीति मनोरजन से अधिक कुछ नही। यह कहानी बाहरी विघटन के समानान्तर भीतरी विघटन का दस्तावेज हो सकती थी यदि मन स्थितियो को सन्दर्भहीन रखकर या धुंधले सन्दर्भ देकर सिनिसिज्म की हद तक न ले जाया गया होता। विजयमोहन सिंह अपनी कहानी **भीड के बाद** मे अस्तित्व-सकट को पहचानने म अधिक सफल रहे हैं। भीतरी विघटन के बावजूद अपने स्वत्व को पहचानने का एक प्रबल सकेत इस कहानी मे है तरह-तरह के मुलम्मो को चढाता हुआ व्यक्ति पाता है कि वह कही नहीं है। 'लोग लगातार चलते जा रहे हैं उसकी पहुँच के बाहर और उसके प्यार से विरक्त।' सामूहिक हित के तथाकथित मूल्य आदमी के भीतर पाखड को जन्म देते है और वह भीतर से टूट जाता है, अपनी इकाई भी गंवा बैठता है और फिर इकाई की पहचान के लिए जूझता है। यह कहानी निर्वासन या अजनबीपन के चालू मुहावरो का अतिक्रमण करती हुई मानवीय नियति के ठीक आमने-सामने है।

वेद राही की एक कहानी है **हर रोज**। बम्बई जैसे महानगर मे जीवन ढोने जैसी चेतना-शून्य स्थितियो को यह कहानी उजागर करती है। साठे रोज सुबह साढे आठ बजे बोरावली से ट्रेन म बैठता है, चर्च गेट पर उतरता है, शाम को चर्च गेट से बोरा-वली की ट्रेन पकडता है और घर पहुँचता है। हर रोज का यह यान्त्रिक क्रम उसे भीतर से सोख रहा है। मानवीय करुणा और सहानुभूति उसके लिए निरर्थक हो गए

है। निरर्थक हो जाने का यह बोध मानवीय नियति का भयावह साक्षात्कार कराता है। साठे देखता है—ट्रेन के दरवाज़े पर खड़े, आँखें बन्द किए एक व्यक्ति को जो गाडी की तेज़ गति के साथ भूल रहा है। साठे सोचता है इस तरह से भूलता हुआ वह आदमी किसी समय भी बाहर गिर सकता है। क्यों न बाँह पकड कर वह उसे सीट पर बैठा दे। साठे ने आगे बढ़ना चाहा, पर रुक गया, ख्याल आया यह तो आम बात है उसकी सोच का रुख ही बदल गया। और वह आदमी चलती ट्रेन के दरवाज़े के पास भूलता हुआ गिर गया और मर गया। महानगर मे सहानुभूतिशून्य होते जान का यह रोज़ का क्रम है। कुछेक अन्य कहानियाँ भी हैं जो मृत्यु-भय का अन्यानेक स्तरो पर उद्घाटन करती हैं जैसे रामकुमार 'भ्रमर' की **शालिग के उस पार** और कुलदीप बग्गा की **कोमा**। पहली कहानी म महानगरीय सत्रास को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया गया है। नगर म रोज़ एक्सीडेंट होते हैं और आदमी का मरना मामूली बात है। इस कहानी मे मृत्यु-भय को इस सदर्भ म उभारा गया है। जसवत मे मानसिक तनाव की स्थिति शुरू से आखिर तक है। 'कितनी अजीब बात है' जसवत ने सोचा, 'इस शहर मे हर चीज़ रास्ता मांग रही है। इसी तरह, चीख-चीख कर और कोई किसी को रास्ता नहीं देता। इस कहानी मे जडता की हद तक पहुँची हुई निरपेक्ष मन स्थिति का चित्रण किया गया है, पर आत्मीय सम्बन्धो के प्रति भावात्मक रुख की गुंजाइश इसमे बनी रही है। **कोमा** कहानी म सामान्य स्थितियाँ है, पर सवेदना का स्वरूप बदला हुआ है। एक ओर हरी के पिता की मौत का प्रसग है। हरी और सुनीता सोचते हैं कि उन्हे सेवा का मौका नही मिला। दूसरी ओर सुनीता का बेटा बीमार है—कुछ दिना से 'कोमा' मे है। सुनीता सोचती है 'जो होना है दो टूक हो जाए'। और कहानी के 'मैं' को लगता है, 'वह मौत इस बीमारी से कम भयानक थी'। इस कथन से मानवीय स्थिति स जुडी यथार्थ की कटुता पूरी तरह से उभरती है।

आस-पास के परिवेशगत यथार्थ को भी समकालीन कहानियो मे प्रारंकित किया गया है। दफ्तर, बाबू, अफसर और नव धनाढ्य वर्ग से यह परिवेश बना है। इस परिवेश से पाठक का अति-परिचय है। ऐसी कहानियो के सम्बन्ध मे यह डर रहता है कि लेखकीय सवेदना सरलीकृत न हो जाए या आत्मकथा अथवा 'केस हिस्ट्री' न बन जाए। श्रवणकुमार ने इस जोखिम को उठाया है और बावजूद इसके कि कई कहानियाँ सामान्य प्रसगों और स्थितियो का लेखा जोखा बनकर रह गयी हैं, उनकी ज्यादा-तर कहानियाँ म चिर-परिचित परिवेश सर्जनात्मक मुहावरा पा सका है जैसे **विरोध, गिद्ध, बवण्डर चमडी पर जमता मोम** आदि कहानियों मे। इन कहानियों मे आस-पास के परिवेश के यथार्थ की तल्खी पूरी तरह से उभरी है। ये यथार्थ के प्रति गम्भीर प्रतिक्रिया की कहानियाँ हैं। ऐसी ही प्रतिक्रिया धर्मेन्द्र गुप्त की **तथागत** कहानी मे भी है। अर्थ-तन्त्र के दबाव तले पिस रहे साधारण आदमी की परेशानी और द्वन्द्व का चित्रण इस कहानी मे है। पर छोड कर गमन का पर जाना आखिर किस ओर

संकेत करता है ? अपनी तरह से जीने की छूट और अपनी तरह से जीने की पद्धति का चुनाव क्या एक साधारण व्यक्ति के हाथ मे है ? वह तो रोजमर्रा की जरूरतो को जुटाता हुआ ही मर-खप जाता है। इन कहानियो मे यथार्थ को पूरी गम्भीरता से ग्रहण किया गया है जब कि रवीन्द्र कालिया की कहानियो म यथार्थ को मजाकिया कोण से देखने की प्रवृत्ति है जिसस उनकी अधिकतर कहानियाँ सामान्य स्थितियों का सरलीकरण कर उनका मखौल उडाती हैं और यथार्थ को केवल ऊपरी परतो को टोहती हैं।

इधर कुछ ऐसी कथा-प्रवृत्तिया भी नजर आ रही हैं जो युग-जीवन के यथार्थ से आक्रान्त (आब्सेस्ड) प्रतीत होती हैं। ऐसी कहानियो म यथार्थ का नहीं, यथार्थ की मुद्राओ और विकृतियो का कथन है। सिद्धेश की मन मत्स्यगन्ध, फोडा, लाश, और अहसास आदि कहानियो म अर्थहीनता का कोरा चित्रण है और यह चित्रण मानसिक निरोहता की हद तक पहुँचा हुआ है। इनम अर्थहीनता का सवेदनात्मक धरातल कहीं नही है। सच तो यह है कि सिद्धेश के पास शहरी जीवन के तनावो और दबावो को अभिव्यक्त करने वाली भाषा नही है। भाषागत असमर्थता की वजह से उनकी कोई भी कहानी स्थितियो और सम्बन्धो की वास्तविक अर्थहीनता और तज्जनित बहुरूपियेपन, ढाग, सहानुभूति-शून्यता का कोई गहरा बोध नही जगा पाती है। ये कहानियाँ सम्बन्धो के या मानवीय स्थिति के यथार्थ की कहानियाँ न होकर यथार्थ के 'भ्रमो' की कहानियाँ बन गयी हैं। अशोक अग्रवाल ने अवश्य ही व्यर्थता-बोधक स्थितियो का डिस्टार्शन की टेकनीक म अहसास कराने की कोशिश की है। उनकी कहानी टुकड़े-टुकड़ में निहायत मामूली जीवन-स्थितियो और प्रसगो को अलग-अलग टुकडो मे रखकर एब्सर्डिटी का बोध कराया गया है।

राजनीतिक सन्दर्भ समसामयिक यथार्थ का एक अपरिहार्य अग है। यह मानवीय नियति को गहराने वाला एक क्रूर सन्दर्भ है। राजनीतिक सन्दर्भ की भयावहता का बोध बहुत कम कहानियो मे हुआ है। दूधनाथ सिंह ने अपनी कहानियो मे इस सन्दर्भ को लिया तो है पर अमूर्त प्रकार के सरलीकरणो का शिकार हो जाने से इस सन्दर्भ का कोई यथार्थ बिम्ब वे प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। देशव्यापी 'कैआस' का यथार्थ बिम्ब हिमांशु जोशी की कहानी जो घटित हुआ है मे उभरता है, फैन्टेसी के शिल्प और भाषा की जबरदस्त अमूर्तता द्वारा। गिरिराज किशोर की कहानियो मे राजनीतिक कोर मानवीय स्थितिया के साक्षात्कार के अग रूप मे अभिव्यक्त हुआ है। पेपरवेट एक ऐसी ही कहानी है जिसम राजनीतिक दुष्चक्र मे अन्तरात्मा के घुटने और टूटने की अत्यन्त सहज अभिव्यक्ति है। अलग अलग कद के दो आदमी कहानी मे व्यवस्था और राजनीति के सदर्भो मे व्यक्ति की विघटित और विडम्बनापूर्ण स्थिति का चित्रण है। गिरिराज किशोर की भाषा का मुहावरा अमूर्त या काव्यात्मक या तनावपूर्ण न हो कर ठेठ, सीधा और सर्जनात्मक है।

समकालीन कहानी सम्बन्धों और मानवीय स्थितियों के यथार्थ को किसी पूर्व-निर्धारित या सुनिश्चित अर्थ में ग्रहण नहीं करती। इसके लिए यथार्थ न कोई पैटर्न है न फ्रेम और न फार्मूला। समसामयिक यथार्थ एक जटिल, सक्रमित और सश्लिष्ट प्रक्रिया है जिसका कोई एक या अन्तिम रूप नहीं है। यह यथार्थ न यथार्थवादी किस्म का है और न मनोवैज्ञानिक ढग का। यह अपने मूल अर्थ में अस्तित्व सकट से जूझने वाला यथार्थ है। समकालीन कहानी दृष्टियों के मोहजाल से उबर कर, कवचहीन हो कर, यथार्थ के सलीब पर टग अस्तित्व-बोध को विविध स्तरों पर अनेक कोणों से पकड़ने और अभिव्यक्त करने का प्रयास कर रही है।

मानव-स्थितियाँ और समकालीन कथा-बोध

समकालीन कहानी मे मानव स्थितियो का चित्रण करने की ओर लेखकों की प्रवृत्ति अधिकाधिक बढ़ती गई है। आकस्मिक कह कर इसके महत्त्व को नकारा नही जा सकता। साहित्यिक क्षेत्र मे किसी बड़ रददोबदल या नए प्रवर्तन के पीछे ऐतिहासिक दबाव रहते ही है। एक काल खंड म व्याप्त ऐतिहासिक चेतना रचना म सीधे प्रतिफलित नही होती, धीरे-धीरे वहां सिमट आती है और अपना पांव जमा लेती है। हर नयी साहित्यिक प्रवृत्ति ऐतिहासिक अर्थ मे अपनी सगति और प्रासंगिकता लिए रहती है या उसकी तलाश करती है। इधर, समकालीन कहानी मे मानव स्थितियो के उद्घाटन की ओर जो अभिरुचि बढी है, उसका यहाँ की ऐतिहासिक सच्चाइयों से सीधा सरोकार है। इसे सार्त्र या कामू का जादू कह कर झुठलाया या टाला नही जा सकता।

इससे इकार नही कि स्थितियां पहले भी थी, पर स्थितियो को मनुष्य की सही हालत के संदर्भ मे न रख कर उन पर 'रहस्य' का खोल उढा दिया जाता था या कल्पनालोक मे उडान भरने की सुविधा ले ली जाती थी या स्थितियो को आदर्शात्मक परिणतियो की ओर या स्थूल सामाजिक समस्याओ के घेरे मे धकेल दिया जाता था। छायावादी कविता हो या तत्कालीन कथा-साहित्य, इनमे मूल समस्याओ से सीधे-सीधे टकराहट से बचने या कतराने की प्रवृत्ति थी। प्रेमचन्द की कफन और पूस की रात कहानियाँ अवश्य अपवाद कही जा सकती हैं जिन म स्थितियो का सामान्य चित्रण या आदर्शीकरण न हो करके, स्थितियो के यथार्थ का घिनौना रूप उभरा है। स्थितियो को

यहाँ न तो समस्याओं के रूप में उठाया गया है और न ही उन्हें किन्हीं निष्कर्षों से जोड़ा गया है। प्रेमचन्द के बाद के कथा साहित्य में सामाजिक प्रतिबद्धता का नारा चाहे कितना बुलन्द हुआ हो पर सामाजिक यथार्थ को तिलमिला देने वाली मानव स्थितियों का इस में अभाव ही है। तथाकथित प्रगतिवादी कहानियों का अर्थ और आशय स्पष्ट और सुनिश्चित होने के कारण, ये कहानियाँ मानव-स्थितियों को उभार पाने में अक्षम रहीं। इस बीच अज्ञेय (हर रोज़), मुक्ति-बोध (क्लॉड इथरली) और रांगेय राघव (गूँगे) की कुछ ऐसी कहानियाँ अवश्य आईं जो नए परिवेश में मनुष्य की बदलती हुई स्थिति को संवेदनात्मक स्तर पर व्यक्त करती थीं। इसके अनन्तर 'नयी कहानी' में 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'भोगे हुए यथार्थ' की बात जिस रूप में उठाई गई, उसमें स्थितियों की बौद्धिक समझ और पकड़ ढीली पड़ गई और कहानियों में औसत स्थितियों की भरमार हो गई।

वास्तव में, हिन्दी साहित्य में आधुनिकता के उदय के साथ ही मानव स्थितियों को समझने की प्रक्रिया प्रारंभ हुई। इस में सन्देह नहीं कि इस प्रक्रिया की गति बहुत धीमी रही। इसका कारण था हमारी राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक परिस्थितियाँ जो बार-बार भुलावे में डालती रहीं और हम मोह भंग की स्थिति से एक इंच नीचे खड़े एक झटके का इंतजार करते रहे। सातवें दशक के शुरू होते ही हम भरपूर झटका मिला और हम ने पाया कि हम परिवर्तित युग-चेतना की गिरफ्त में हैं। यही संपूर्ण मोहभंग से हमारा प्रथम साक्षात्कार हुआ और समय की निर्मम सच्चाइयों के संदर्भ में मानव नियति की क्रूरता और भयावहता हमारे सामने प्रत्यक्ष होने लगी।

इस साक्षात्कार के सम्मुख पहले तो हम भौंचक्के और स्तब्ध रह गए। फिर, परकटे पक्षी की तरह निःसहाय से भीतर ही भीतर फड़फड़ाते रहे और अब उसी पक्षी को हम अपनी चेतना में लहूलुहान महसूस कर रहे हैं। मानव-स्थितियों का यह तल्ख अहसास सातवें दशक की कहानियों का केन्द्रीय बोध है।

सवाल यह है कि समकालीन कहानी में यह बोध किस रूप में अभिव्यक्त है? स्थितियों की गहरी और तीव्र संवेदना होना एक बात है, पर उन्हें रचना के विविध स्तरों पर, कथा-संरचना के संश्लिष्ट अंग के रूप में सृजित करना सर्वथा दूसरी। यह बात अब तक स्पष्ट हो चुकी है कि समकालीन कहानी में स्थितियों के यथार्थ को पकड़ने की कोई तयशुदा दृष्टि नहीं है। व्यवस्थित दृष्टि को अपनाने में जो भयंकर परिणाम निकल सकते हैं उन्हें हिन्दी कहानी (और कविता भी) प्रगतिवादी आन्दोलन के दौरान भुगत चुकी है। इसीलिए समकालीन कहानी-लेखक रूढ़ यथार्थवादी ढर्रे से अलग हट कर, मानव स्थितियों के यथार्थ से जुड़ना है जहाँ वादग्रस्त दृष्टियों के कवच गल कर उतर जाते हैं और वह सीधे मानव-

स्थितियों से कृति की बुनाई में जुटता है और अपनी रचनाधर्मिता को पहचान करता है। ये मानव-स्थितियाँ कहीं सामाजिक-राजनीतिक यथार्थ के ठोस संदर्भों से जुड़ी हैं तो कहीं वैयक्तिक यथार्थ के गहरे आन्तरिक स्तरों से। फणीश्वरनाथ 'रेणु' की कहानी रेखाएँ वृत्तचक्र इस सम्बन्ध में देखी जा सकती है। इसमें यथार्थ को, उसकी पूरी जटिलता और उलझनों के साथ पकड़ने और बाह्य परिवेश से उस की टकराहट व्यंजित करने की अपूर्व क्षमता है। महत्व की बात यह है कि वे इस व्यंजना को कहानी की संरचना में ही गूँथते हैं और चेतना प्रवाह शैली और स्वप्न-शिल्प द्वारा अन्तर-बाह्य यथार्थ का रेशा-रेशा उधेड़ते चलते हैं। इस कहानी में अहं के विसर्जन का नहीं, अहं की सूक्ष्मतम परतों को उघाड़ कर, बाहरी दुनिया से उसका रिश्ता कायम किया गया है। आपरेशन के बाद के १० घंटों में अवचेतन मन के व्यापार कितने नंगे होकर सामने आते हैं, इसे लेखक ने चेतना प्रवाह और स्वप्न-पद्धति के माध्यम से अभिव्यक्त किया है और बाहरी वास्तविकता की बीभत्सता की ओर संकेत किया है। यह संकेत कहीं-कहीं बड़ा उग्र और आक्रोश-पूर्ण है 'नहीं नहीं, मैं कोई कसूर कबूल नहीं कर रहा। मेरा मतलब है, मैंने कोई कसूर किया ही नहीं। इस दुनिया, अर्थात इस विशाल वेश्यालय में मैं ही सबसे बड़ा पुण्यात्मा हूँ, क्योंकि मैं ही इसे समाप्त करना चाहता हूँ'—ध्वंस'। यह कहानी ऊपरी तौर पर देखने से 'आटो-राइटिंग' लगती है पर यह 'आटोराइटिंग' नहीं है क्योंकि इसमें आत्म-लोप की नहीं आत्म विडम्बना की बात परत-दर-परत खुलती चलती है और फिर बाहरी दुनिया के साथ इसका रिश्ता जुड़ता चलता है।

कमलेश्वर मानव नियति के प्रश्न को ठोस सामाजिक, राजनीतिक संदर्भ में उठाते हैं। उनकी कहानी लाश राजनीतिक स्थिति के ठहराव का व्यंग और विडम्बना के सहजे में कौशलपूर्ण ढंग से चित्रण करती हुई मौजूदा मानव-विरोधी राजनीतिक यथास्थिति की ओर इशारा करती है। राजनीतिक स्तर पर आयोजित मोर्चे, विरोध और आक्रोश के नारे, आम आदमी के संदर्भ में बेहूदे प्रमाणित होते हैं—"सारा शहर सन्न रह गया। गनीमत थी कि इतने बड़े हादसे में सिर्फ एक लाश गिरी थी। वह लाश भी बिल्कुल सालिम थी। उसके न गोली लगी थी, न वह कहीं से घायल थी।" पुलिस के अनुसार यह विरोधी नेता कांतिलाल की लाश है और कांतिलाल का कहना है कि यह मुख्यमंत्री की लाश है और मुख्यमंत्री का कहना है 'यह मेरी नहीं है।' दरअसल, क्रूर राजनीतिक परिवेश से जुड़े हुए वह आम आदमी की लाश है। निःसन्देह, यह एक स्थिति का कलात्मक बयान है। पर, क्या इतना काफी है? कहानी की संरचना के संकेतधर्मी होने के बावजूद इसमें सम-सामयिक आदमी के निजत्व की तलाश की ओर संकेत क्यों नहीं है? राजनीतिक रंगत की कहानियों के संदर्भ में यह और भी जरूरी है कि उनमें लेखक राजनीतिक संदर्भ की गहरी समझ और पहचान का सबूत दें और तल्ख राजनीतिक-बोध को

निलमिला देने वाल विचार-तत्र से सयुक्त कर मानव-नियति के पक्ष को उजागर करें। पर, अक्सर ऐसा हो नही पाता और तात्कालिक दृष्टि चीजो को उनकी सही शक्ल और सदर्भ नही पाने देती। कुछेक लेखक जैसे भीष्म साहनी और गिरिराज किशोर तात्कालिक उत्तेजना से मुक्त होकर, राजनीति स सम्बद्ध मानवीय पक्ष को उभार सके है। भीष्म साहनी की कहानी मौकापरस्त मे राजनीतिक नेताओ के पाखण्ड और धूर्तता को बडी बेबाकी और क्रूरता स उजागर किया गया है। मौत का भी अपने हक म इस्तेमाल करने के कौशल म निपुण वे उन लडको से भी ज्यादा मौकापरस्त, चालाक और धूर्त हैं जो बूचडखाने म ले जाई जाती हुई निरीह बकरियों का दूध दुहते हैं। शुरू और अन्त म बूचडखाने के प्रसग की व्यजना कहानी को सवेदना के अनेक अर्थ-स्तरो पर खोलती चलती है। इसी तरह रवीन्द्र कालिया की कहानी काला रजिस्टर एक निर्मम व्यवस्था के सदर्भ मे मानवीय स्थिति का दस्तावेज है। यह दफ्तरी बाबुओ के आपसी सम्बन्धो का ही रेखाकन नही है। इसम दम घोटू व्यवस्था म व्यक्तियो के निरीह और लाचार होते जाने की सवेदनात्मक प्रक्रिया वृहत्तर सदर्भों की अनुगूंजो सहित, उपस्थित है।

राजनीति और व्यवस्था क अलावा युद्ध के ज्वलत सदर्भ भी आधुनिक आदमी की जटिल मन स्थिति और यातना से जुडे हुए है। महीपसिह की कहानी युद्धमन युद्धग्रस्त मन स्थिति को उजागर करने वाली कहानी है। युद्ध का आतक यहा मानसिक स्तरो पर सक्रमित होता है। युद्ध को यहा एक समस्या क रूप मे नही एक स्थिति के रूप म प्रस्तुत किया गया है। यह स्थिति कोहली साहब द्वारा स्व-वरण की गई है जो इसे मानव स्थिति के दर्जे तक पहुँचाती है। सवेदना प्रकट करता एक-एक चेहरा उसे बडा घृणित-सा लगता है। इसीलिए व उस आघात मे जो सिर्फ उनका है एकमात्र उनका, उसमे वे किसी की हिस्सेदारी नही चाहते 'यदि मेरे किसी बच्चे या सम्बन्धी को शहीदी मिली तो उसका सुख या दुख सिर्फ मेरा होगा। उसे मैं अकेला भोगूगा, किसी के साथ मिल कर नही।' इस कहानी म युद्ध के आतक से पैदा हुई मन स्थिति का, बिना भावुक हुए, बोध कराया गया है।

मानव स्थितियो को उजागर करने वाला बोध अपने मूल रूप म महानगरीय है। महानगर के जीवन के उलझे हुए परिवेश म मनुष्य की यत्रणा, भय, अकेलपन और व्यथता का अहसास जितना तीव्र और सघन है उतना गाँव के परिवेश मे नही, हालांकि गाव और शहर की मध्यान्त चेतना का गहरा सवेदनात्मक बोध इधर की कई कहानियो म हुआ है। महानगरीय तनाव और यातना का, अकेलेपन और व्यर्थता का एहसास एकायामी न होकर, बहुविध और जटिल होता है।

महानगर के जीवन में दुर्घटना का होना एक सामान्य स्थिति है। इस का इधर की कहानियों में औसत चित्रण भी हुआ है और जटिल अनुभव के रूप में भी इस का बोध कराया गया है। सुदर्शन चोपड़ा की कहानी सड़क-दुर्घटना की संरचना जटिल है। बाह्य दुर्घटनाओं की भयानकता के साथ-साथ यहाँ भीतरी दुर्घटना भी पूरी क्रूरता से उभरती है: 'मुझे ठीक याद है कि उसे प्वाइंटिड बूट से ठोकरें मारते समय मैं बराबर यही समझे जा रहा था कि अपने ही अपमानित आपे को पीट रहा हूँ।·· मैं ·· · आखिर क्योंकर मान लूँ कि मैं अपने ही बेटे को जान से मारना चाहता था? आखिर मैं उस का बाप हूँ। उस का मेरा खून का रिश्ता ठहरा। नाखूनों से भला मांस जुदा हो सकता है। इस कहानी में मनुष्य की यातना के एक गहरे मानसिक स्तर को उभारा गया है। जितेन्द्र भाटिया की कहानी एक आदमी का शहर में शहरी जीवन के अकेलेपन की संवेदना व्यक्त है। लेखक ने इस संवेदना को शहर की अनेक स्थितियों और प्रसंगों में रख कर अभिव्यक्त किया है। शंकर कहानी की मूल संवेदना को व्यक्त करता हुआ कहता है 'यही कि हर इंसान अन्ततः अकेला है – कि आखिरकार हर चीज का संदर्भ अपने-आप पर समाप्त होता है।' ये स्थितियाँ कोई अजूबा नहीं हैं, ये हमारे समसामयिक संसार की, रोजमर्रा की स्थितियाँ हैं जिन्हें इस कहानी में अभिव्यक्त किया गया है। जगदीश चतुर्वेदी की कहानी त्रास भयाक्रान्त मानवीय स्थिति को, नितान्त वैयक्तिक संदर्भ में उभारती है। कहानी का 'वह' ऑपरेशन के लिए अस्पताल में दाखिल है। कल उसका ऑपरेशन होने वाला है और आज की रात उसने एक कशमकश में गुजारनी है। उसे नींद नहीं आ रही। पिता और नर्स के प्रसंग में वह हल्की फुल्की प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। तभी उसे लगता है खिड़की पर झुकी पीपल की टहनी पर एक नर कंकाल लटक रहा है। रात में वह देखता है कि चार आदमी कई जगह से चिथड़े हुए मांस के एक लोथड़े को बिस्तर पर लिटा रहे हैं – और आसन्न मृत्यु की दहशत में उसे नींद आने लगती है। यह वैयक्तिक यथार्थ के धरातल पर, भीतर घुमड़ते भय का बोध कराने वाली कहानी है।

मानव-स्थितियों को सीधे मूल्य धरातल पर अभिव्यक्त करने की भी कोशिश की गई है। आज के मनुष्य की मूल्यरहिता का आभास देने वाली मन स्थिति—उसे एक अमानवीय शिकंजे में कसती जाती है। अन्ततः मूल्यशून्यता जीवन के नकार की स्थिति है जो मनुष्य के दिशाबोध के लिए घातक है। अशोक अग्रवाल की कहानी 'उस का खेल' एक फंटेसी है पर कहानी के अंत की पंक्तियाँ मानव स्थितियों की मौजूदा हालत को मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में उठाती हैं—'और मैंने जाना कि मेरा वह दिशाबोध उसका खेल था। शून्यों की लड़ियाँ पिरोते हुए मैं अब शून्य ही रह जाने के लिए अभिशप्त था।'

समकालीन कहानी मे मानव-स्थितियों का जिस रूप मे चित्रण हुआ है, क्या उसे प्रतिनिधित्वपूर्ण या प्रामाणिक कह सकते हैं ? ऐसा दावा शायद नही किया जा सकता। कहानी हो या कविता या साहित्य की अन्य कोई विधा, समसामयिक स्थितियों का उसका लेखा-जोखा, अपने माध्यमों की विशिष्टता के कारण, गहरा और जटिल होता है, संपूर्णतः प्रतिनिधित्वपूर्ण और अंतिम नही। रचनाकार के लिए स्थितियों का महत्त्व आंकड़ो से बढ़ कर एक माहौल के रूप मे है जिसे वह एक संदर्भ (संभव हो तो शक्ल भी) देता है। समकालीन कहानीकार इस से अधिक का दावा नही कर सकता।

विसंगति और विडम्बना : एक अराजक होता हुआ कथा-संसार

व्यक्ति जब 'अपने सामने नग्नप्राय' खडा हो तो वह अपनी स्थिति के लिए अपने से इतर किसी अन्य को जिम्मेदार नही ठहराता, उसकी कापती हुई क्रुद्ध उँगली उठते-उठते रुक जाती है, क्योंकि वह अपने सामने आइनो की एक दीवार खडी पाता है जिसमे उसके अपने ही विसगतियो-भरे, विरोधाभासपूर्ण, बेढगे और विकलाग अक्स उभरते हैं। उस के लिए अपने अदर के भयावह यथार्थ से बडा और कोई यथार्थ नही होता। वह सत्ता या व्यवस्था के प्रति न घृणा उंडेलता है, न परिवेश की विसगतियो की शिकायत करता है। उसके लिए प्रामाणिक है परिवेशगत बोध जिसकी पहचान वह गहरे आत्मिक धरातल पर करता है और जो उसे सताता है, तिलमिला देता है और अनर्जगत मे उथल-पुथल मचा देता है।

कृष्णबलदेव वैद की कहानियो मे (कहानी सग्रह : **दूसरे किनारे से,** *राधाकृष्ण प्रकाशन*) इस व्यक्ति को उसकी सपूर्ण *जटिलता मे पकडने-समझने और उसके बोध को अभिव्यक्त करने की चेष्टा की गई है। ये बाहरी सन्दर्भ की अपेक्षा भीतरी सन्दर्भ मे चरितार्थ होने वाली कहानियाँ है। यह 'भीतर' 'बाहर' का प्रतिफल नहीं,* न ही उसकी प्रतिक्रिया। यहाँ समूचा बाहर भीतर स्थानातरित हो गया है जिससे उसकी एक अलग अतर्सत्ता बनी है और एक आन्तरिक तर्क सगति भी। इसमे परिवेश को नकारने या चुनौती देने का अदाज न हो करके, परिवेश को एक सवेदनात्मक शक्ति देने और उसे आतरिक स्तरो पर सृजित करने की कोशिश झलकती है। यह कोशिश रचनात्मक अपेक्षाओ की दृष्टि से कितनी सफल है या असफल,

कलात्मक है या अकलात्मक, इसे कुछेक कहानियो के आधार पर परखा जा सकता है। उदाहरण के तौर पर उनकी एक कहानी रात लें। सभी कुछ विसगति और विडम्बना की स्थिति मे है। अपने निजत्व की पहचान गवा चुके और उसके लिए छटपटाने वाले आदमी की स्थिति यह है 'मेरे पैर मुझ से दूर होते जा रहे है। मेरा मुंह चिढ़ाते हैं और फिर उसी तरफ (वीराने की ओर) फुदकते हुए बढ़ जाते हैं।' इस कहानी मे लेखक ने मानव-प्रकृति की विडबना का एहसास कराने वाली विसगतिपूर्ण स्थितियो का डिस्टार्शन की टेक्नीक मे बोध कराया है। तमाम मौजूदा स्थितियाँ गडडमडड है—कमरा प्लेटफार्म मे बदल जाता है और 'वीराना प्लेटफार्म की जगह ले लेता है। 'कहा जा रहे हो ?' की अनुगूंज कहानी को मूल्यगत छटपटाहट से जोड देती है 'शायद सब मर चुके है। बस मैं ही बचा रह गया हूँ। मैं और यह मरा हुआ जानवर जिसकी लाश मे न जाने कहाँ-कहाँ ढोता फिरूँगा। अब भी वक्त है। नही, वक्त भी मर चुका है। मैं मुस्कराता हूँ, चिल्लाता हूँ। यह वैयक्तिक धरातल पर मानव-नियति की तेज और तीखी अभिव्यक्ति है। क्या यहाँ नियति का कोई ठोस बाह्य सदर्भ है ? यहाँ तो अधेरे मे, अयथार्थ मे लिपटा हुआ एक मकान है जिसम कुछ छायाएँ इधर से उधर, उधर से इधर मँडरा रही हैं। कहानी का 'मैं इन छायाओ को भस्म कर देना चाहता है। पहले वह उन के प्रति आक्रामक हो उठता है, फिर उनसे बच निकलना चाहता है और अत मे उसे महसूस होता है कि चीजो और व्यक्तियो के प्रति आक्रामक रवैया व्यर्थ ही नहीं, आत्मघाती भी है। इन छायाओ की कोई ठोस उपस्थिति कहानी मे नही है। इन कहानियो म भीतर अराजक होते हुए भी ससार की अमूर्त्त उत्कट अभिव्यक्ति है।

इस सग्रह की अधिकतर कहानियाँ ऐसी हैं—जो यौन-सम्बन्धो के आधार पर जटिल अनुभवो को सप्रेषित करती है। ऐसी कहानियाँ हैं—त्रिकोण, सब कुछ नहीं और नीला अँधेरा। इनमे सेक्सगत स्थितियो को एक सर्वथा भिन्न कोण से देखा गया है और नई आधुनिक दृष्टि के अतर्गत उनका बोध कराया गया है। सेक्स यहाँ बदली हुई मानसिकता के प्रतीक रूप म आया है। त्रिकोण कहानी लें। इसमे पति-पत्नी और प्रेमिका का बिल्कुल नया त्रिकोण है। प्रत्येक की मन स्थिति बदली हुई है। यौन-सम्बन्धो का यह बदला हुआ रूप ग्रह की खोल को बनाए रखने और उसमे सिमट जाने का है। लेखक ने यौन-सम्बन्धो की मौजूदा स्थितियो को मानसिक द्वद्वो के स्तर पर अभिव्यक्त किया गया है। यौन-स्थितियाँ जटिल अन्तरग रूपो और यातनाओ से जुड जाती है उनकी कहानी सब कुछ नहीं मे। एक ओर पति से अलग हुई औरत है तो दूसरी ओर पत्नी से अलग पडा हुआ पुरुष है। दोनो के बच्चे भी हैं। वे उन स्थितियो को बखूबी जानते हैं जो उन्हे कोई विकल्प या रास्ता नही देती। औरत कहती है 'मैं लौटना नहीं चाहती, परंफिर भी लौटूँगी, क्योंकि और कोई चारा नही।' इस मजबूरी को दोनो जानते हैं कि दोबारा कुछ भी शुरू नहीं किया जा सकता। वे जान चुके हैं कि सभी सम्बन्धो की सभावनाएँ एक सी होती हैं। यहाँ यौन-

सम्बन्धो का नही, यौन-सम्बन्धो के दौरान पैदा हो जाने वाली उस मनोवृत्ति का महत्त्व है जो आदमी को अकेला, आत्मपराया और पीडित बना जाती है। कहानी के परम्परागत चौखटे को, शैली शिल्प के स्तर पर तोड कर लेखक ने इस अनुभव को अभिव्यक्त किया है। नीला अँधेरा का काव्य भी औरत-मर्द के रिश्तो मे व्याप्त हो जाने वाली दूरी ही है। लेखक ने इन रिश्तो मे सिमट आए अकेलेपन, भय और जडता को इस कहानी मे उभारा है। अवसर जैसी एकाध कहानी को छोड दें तो इस सग्रह की यौन सम्बन्धो की कहानियाँ, सम्बन्धो की जटिलताओ का एहसास कराने वाली हैं।

पारिवारिक तनाव या टूटन की कहानी है ऋण जिस का चित्रण लेखक ने निसगता से किया है। भूल, अवरस और प्रलाप इस सग्रह की निहायत मामूली कहानियाँ हैं।

कृष्णबलदेव वैद की अधिकांश कहानियाँ आत्मालाप और सबोधन की शैली मे हैं। यह, तत्वत', स्वय को सम्बोधित बातचीत है। इसका तेवर तल्ख और पैना है और भीतरी विघटन को उभार पाने म सफल है। ध्यान देने की बात यह है कि आत्मालाप और आत्मसम्बोधन की शैली म रचित होने के बावजूद ये कहानियाँ आत्म-केन्द्रित नही हैं। इनके बीचो बीच अन्तर्मथन चलता रहता है जिसके माध्यम से लेखक भीतरी कोहराम को शब्दबद्ध करता गया है।

अभिव्यक्ति के इस तरीके मे बाहरी परिवेश और सदर्भ महत्त्वहीन या धुधले रह जाते हैं और तीव्र आंतरिक उन्मेष में कहानी का तन छिन्न-भिन्न हो जाता है। महीपसिह अपनी कहानियो मे परिवेश और आतरिकता म सतुलन बनाए रखने की कोशिश करते हैं। उनकी कहानियो मे (कहानी-सग्रह घिराव राजपाल एण्ड सज) जीवन के सूक्ष्म पहलू और वास्तविक सदर्भ है। वे उलझी हुई पेचीदा मन स्थितियो को उठाते हैं, कभी-कभी उन्हे गहरे मानवीय अभिप्रायो से जोड भी देत है। महानगर जीवन की विसगतियो और तनावो के बीच जी रहे पात्रो की दुहरी मानसिकता का बोध उनकी कहानियाँ कराती हैं। इनमे जहाँ अहकेन्द्रित और कुठाग्रस्त पात्र हैं वहाँ भयाक्रात और 'हिपोक्रेट' पात्र भी हैं। इन पात्रो के जरिये आजकी जटिल और तनाव-पूर्ण मन स्थितियो और द्वद्वपूर्ण मानसिक दशाओ को, सम्बन्धो के आधार-फलक पर चित्रित किया गया है। उनकी दृष्टि सम्बन्धो के चित्रण तक नही रुकती बल्कि उस आदमी को टोहने और पहचानने का प्रयत्न करती है जो तमाम सम्बन्धो के बीचोबीच बिछा हुआ है।

इस सग्रह की कहानियो मे सम्बन्धो का तनाव ही नही, तनाव म सहज हो पाने की दृष्टि भी व्याप्त है। यह दृष्टि कहाँ आरोपित है और कहाँ रचना का अवि-भिन्न अग, इसे परखने के लिए हम तीन कहानियाँ लेते हैं—पारदर्शक, घिराव और कील। इनमे सम्बन्धो के तनाव को अलग-अलग स्तरो पर उठाया गया है। पारदर्शक कहानी मे जीवन की भयाक्रात स्थितियो का बोध कराने का प्रयास किया गया है।

कहानी का 'वह' तनाव को बाहरी और भीतरी दोनो स्तरो पर सहता है। पर उसकी तनावपूर्ण मन स्थितियाँ सम्बन्धो की जटिलता का एहसास नही कराती। यह अहसास भापी करानी है। वह तनाव मे सहज हो पाने के लिए स्वय से जूझती है। तनाव मे सहज हो पाने की दृष्टि यहाँ रचना के भीतर से उभरी है। अत रचना का आवयविक अग है। इसके विपरीत घिराव कहानी मे मूल सवेदना रचना स्तर पर व्यक्त न हो कर सरलीकरण का शिकार हो गई है। इसमे भी सम्बन्धो के तनावपूर्ण होते जाने की अभिव्यक्ति है। सिम्मी भीतर के तनाव और आतक से पीडित है। अमर उसे बुरी तरह से घेरे हुए है। लेकिन उसे यह तीव्र एहसास है कि यह घिराव अमर की तरफ से नहीं, उसके मन का ही है। इस मूल मन स्थिति के चित्रण के साथ-साथ इस कहानी की सरचना मे एक अन्य घटना का भी सयोजन किया गया है जो बाहरी घिराव या आतक के स्थूल रूप की ओर इशारा करती है। लेकिन, लगता है कहानी की बुनावट म इस घटना के विधान के लिए कोई गुजाइश न थी। सम्बन्धो के तनाव का एक अन्य स्तर फील कहानी म है। इसम मनोग्रथियो के शिकजे से उबरने की छटपटाहट का बोध कराया गया है। कहानी मे मोना और उसके डैडी जटिल चरित्र वाले पात्र है। मोना के चरित्र की जटिलता का कारण उसके डैडी हैं जो उससे कहते रहते है कि वह असाधारण है। डैडी उसे असाधारणता का खोल इसलिए ओढाते हैं कि वह किसी लडके को पसद करने की मन स्थिति म आ ही न सके। मोना इस ग्रथि से मुक्त होकर जीना चाहती है और इसकी गिरफ्त से वह तब छूटती है जब उसे एहसास होता है कि उसके व्यक्तित्व म कोई खास बात नहीं। फील एक प्रतीक है अहकेंद्रित डैडी व प्रति माना की असामर्थ्य के टूटने का। जटिल और तनावपूर्ण सम्बन्धो म सहज हो पाने की प्रक्रिया इस कहानी की रचनाशीलता मे व्याप्त है।

इस सग्रह की एक अन्य महत्वपूर्ण कहानी है युद्ध मन। यह युद्धग्रस्त मन -स्थिति को उजागर करने वाली कहानी है। युद्ध का आतक यहाँ मानसिक स्तरो पर सक्रमित हुआ है। युद्ध को यहाँ एक समस्या के रूप मे नही, एक स्थिति के रूप म प्रस्तुत किया गया है। यह स्थिति कोहली साहब द्वारा स्वत वरण की गई है जो इस मानवीय स्थिति के दर्जे तक पहुँचाती है। सवेदना प्रकट करना एक एक चेहरा उस बडा घृणित सा लगता है। इसलिए वे उस आगत म जो सिर्फ उनका है, एकमात्र उनका, उसमे वे किसी की हिस्सेदारी नही चाहते। 'यदि मर किसी बच्चे या सम्बन्धी को शहीदी मिली तो उसका सुख या दुख सिर्फ मेरा होगा। उसे मैं अकेला भोगूँगा, किसी के साथ मिल कर नही।' इस कहानी मे युद्ध के आतक से पैदा हुई मन स्थिति का, बिना भावुक हुए, बोध करा दिया गया है। यह कहानी इस बात का प्रमाण है कि लेखक पात्रो को ठोस बाह्य घटनाओ और स्थितियो मे डाल कर उनके भीतरी तनाव या स्थितियो के व्यग्य को उभारता है।

महीप की कहानियो मे व्यग्य का लक्ष्य प्राय सामान्य, साधारण स्थितियाँ है जैसे पलियाँ, सोग भाव, दर्द आदि कहानियो मे। उनका व्यग्य भाव प्राय स्पष्ट और

प्रत्यक्ष रहता है। दर्द जैसी एकाध कहानी ही है जिसमे व्यग्य अमूर्त रह गया है। व्यग्य के माध्यम से कही-कही स्थितियो की विसगतियाँ भी उभरी हैं। उनके व्यग्य का तेवर तेज़ और पैना न हो करके हल्का-हल्का है—स्थितियो को चिढाने वाला, उन को काटता चलने वाला और उनकी विडम्बनाओ को उभारने वाला नही।

कृष्णबलदेव वैद की कहानियो मे जहाँ बाहरी स्थितियो के चित्रण की अपेक्षा एक आतरिक अमूर्त्त उरकटता है, वहाँ महीप सिंह की कहानियो मे स्थितियो और सदर्भों की भौतिक सत्ता विद्यमान है, भले उन से सूक्ष्म मन स्थितियो की ओर व्यजना पूर्ण सकेत मिलते हैं। दूधनाथसिंह भी स्थितिया को स्थितिया के रूप मे ही लेते हैं पर वे कहानी के अतिम अश म पहुँचकर उन्ह सायास भीतर ढकेलते हैं और अभ्यन्तरीकरण का भ्रम पैदा करते है। उनकी कहानियाँ (कहानी सग्रह सुखान्त—रचना प्रकाशन, इलाहाबाद) बाहरी स्थितिया को भीतर प्रक्षेपित करने वाली है। यह प्रक्षेपन (सुखान्त कहानी को छोड कर जिसम यथार्थ अभ्यन्तरीकृत होकर सृजित हुआ है) अभ्यन्तरीकरण नही है। बाहरी परिवेश के अभ्यन्तरीकरण की प्रक्रिया मे ब्यौरो या विवरणो के लिए कोई जगह नही रह जाती। प्रक्षेपन और विवरणप्रियता दूधनाथ की कहानियो (केवल इस सग्रह के सदर्भ म) का एक बुनियादी द्वद्व है। आतरिक जगत् के विघटन और खोखनेपन या आत्म सघर्ष की ओर सकेत करने के लिए लेखक प्रक्षेपित वस्तु को चक्करदार शिल्प के माध्यम से उठाता है या फिर बयानबाजी का सहारा लेता है। इस सग्रह की एक कहानी विजेता लें। इस कहानी के अतिम भाग मे पहुँच कर सभी घटनाएँ और स्थितियाँ आतरिक अर्थ सकेतो से सयुक्त होती चलती हैं। यह किसी के विरुद्ध नही, अपने विरुद्ध लडी जाने वाली लडाई है—अपने मुखौटो और मुलम्मा को तोड कर अपने यथार्थ की पहचान के लिए लडी जाने वाली लडाई। इस कहानी मे अपने ही घिनौने और मायावी चेहरे को पकडने की कोशिश है। कहानी का 'मैं' कहता है 'मैं जानता हूँ लेकिन मैं भागता रहता हूँ। और वह खूंखार, दयनीय टूटता हुआ अपना ही नरप्रेत डर कर मेरा पीछा करता है।' यह अपने भीतर का चक्रव्यूह है जिसमे व्यक्ति सतत सघर्षरत है। नरप्रेत एक प्रतीक है—अपने ही चारो ओर मँडराते रहने का, उन तमाम आत्मकेंद्रित प्रवृत्तियो का जिनके रहते वृहत्तर मानवीय आकाक्षा की बात बेमाने लगती है—'स्थितियाँ किस तरह आदमी के सच को झूठ मे बदल देती हैं। और आप चिल्लाते रहिए, कोई यकीन नही करता'। आदमी की बडी विडम्बना है 'मानवीयता किस तरह बेरहमी से मेरा पीछा कर रही थी और मैं भाग रहा था, इस तरह यह कहानी बाहरी धरातल से एकाएक छलाग लगाकर अतरग धरातलो पर आ पहुँचती है और आज के आदमी के विघटन और विसगति की ओर सकेत करती है। पर इस विघटित और विसगतिपूर्ण मानसिक स्थिति को उखाडने के लिए कहानी के प्रारम्भिक विवरणो और पात्र की मन स्थिति के विस्तृत वर्णनो की क्या तुक थी? यही बात उत्सव कहानी के सबध

में कही जा सकती है। कहानी के शुरू के पृष्ठों में लेखक ने एक-एक पात्र का रेखांकन प्रस्तुत करने का जो ढंग अपनाया है वह पुराने कला नुस्खों की याद दिला देता है। यह न भी खटकता यदि कथा के समानान्तर एक अन्य अर्थ आन्तरिक स्तरों पर संक्रमित होता चलता। पर, यहाँ तो बाकायदा एक कथा है। इसके चलते इस कहानी को कथानकहीन या कथा के ढाँचे को तोड़ने वाली कैसे कहा जा सकता है? शिनाख्त कहानी में भी एक भरी-पूरी कथा है। इसमें एक विवाहित मर्द-औरत के यौन-संबंधों की व्यंजना है। वर्षों पहले मर्द औरत के पारस्परिक यौन-सम्बन्ध थे। शुरू शुरू में वे एक-दूसरे को हसरत से देखते थे, लेकिन बाद में 'उनके पास एक दूसरे के लिए हिकारत, नफरत, उपहास, जहरबुझे गंदे शब्द थे जिन्हें वे रह-रह के अपने एकांत में उगला करते।' और अब इतने वर्षों बाद वे एक-दूसरे को यों ही नहीं निकल जाने देना चाहते थे। यहाँ तक कहानी सपाट और स्थूल ढंग से चली है। पर संयोग के बाद के जटिल एहसास को लेखक ने मानव-अस्मिता से जोड़ दिया है: 'क्या मैं बता सकता हूँ कि वह कौन सी चीज़ थी जिसकी सहसा हमने मिल कर हत्या कर दी थी? क्या मैं उसकी शिनाख्त कर सकता हूँ। प्रेम या घृणा या वासना या स्वार्थ या सब कुछ का एक मिला-जुला नाटक? क्या मैं उसे पिन-प्वाइंट कर सकता हूँ'? यह कहानी की केन्द्रीय संवेदना का स्थल है पर इस तक पहुँचने के लिए कथा-रस की जो लम्बी भूमिका तैयार की गई है उसकी क्या कोई संगति इस तरह की कहानी के लिए है? *स्वर्गवासी कहानी भी विवरणों और ब्यौरों की भरमार की शिकार हुई है।* कहानी में 'वह' की मानसिकता को उभारने की कोशिश की गई है पर इसमें लेखक पूरी तरह से असफल रहा। *कबन्ध* कहानी में आज की उस स्थिति का चित्रण है जहाँ कोई संवाद संभव नहीं रह गया। आदमी सिर्फ बड़बड़ाता है जिसका दूसरे आदमी से कोई सरोकार नहीं।

सुखांत इस संग्रह की एक लम्बी कहानी है जिसे लेखक ने एक स्वप्न कथा कहा है। इसे चार खण्डों—परिस्थिति, प्रत्यवलोकन, प्रतीक्षा और पुन: दर्शन में विभाजित करके बोझिल बना दिया गया है। इस कहानी के 'टेम्पर' को देखते हुए लम्बे चौड़े विवरणों के लिए कोई गुंजाइश नहीं थी पर यहाँ भी लेखक ने इसके लिए रास्ता निकाल लिया है। वैसे यह कहानी, भाव और कथन स्थिति के बावजूद, आज के आदमी की सही स्थिति का बोध कराती है। कहानी के अंत की पंक्तियाँ हैं 'मैं वही हूँ—अपने ज़माने के गहरे विध्वंसक अर्थों के अंधकार में गुम,'' विदूषक और दार्शनिक के द्वंद्व से जर्जर लेकिन ईमानदार'। यह आदमी दुःस्वप्न में जागता रहा। *उसी के अन्दर, उसी से घिरा हुआ—अनवरत। वह अपने ही विरुद्ध संघर्षरत रहा* और औरों के लिए—माँ और पत्नी के लिए उसकी आन्तरिक टकराहट की प्रतिध्वनि बड़बड़ाहट मात्र बनी रही। उमंग, उत्साह और अतिवाहक प्रयत्न निरर्थक और अतीत की बात बनते गए। सारे सम्बन्ध गड़बड़ा गए और एक अजीब-सा मसखरापन साधारण चरित्र बन कर चारों ओर फैल गया। आशा और प्रतीक्षा महज़ छल सिद्ध

हुई। लगा कहीं कुछ नही होगा। और फिर मूल्य धरातल पर यह चीख 'क्या इस सार्वजनिक प्रजनन गृह मे अब कभी कोई मसीहा पैदा नही होगा?' यह लेखक की मूल्यगत छटपटाहट को व्यक्त करने वाली पंक्तियां हैं जो इसे मानवीय सगति प्रदान करती है।

गिरिराज किशोर की कहानियां (कहानी सग्रह रिश्ता और अन्य कहानियां राजकमल प्रकाशन) सम्बन्धो व तनाव को तनावहीन भाषा म व्यक्त करती है। इनमे जटिलतर होते हुए सम्बन्धो और मानसिक कुठाओं की अभिव्यक्ति सीधी और ठेठ है—कभी कभी सपाटता की हद तक। इनका रचना विधान इकहरा है। इन कहानियो मे लेखकीय अनुभूति अनेक अर्थ-स्तरो पर सचरित होने के बजाय एक स्तरीय है।

इस सग्रह की शीर्षकहीन कहानी लें। इनम दो मित्रो के सम्बन्धो और मन-स्थितियो मे इस कारण अतर घटित हो जाता है कि एक अफसर है और दूसरा क्लर्क। अफसर और क्लर्क के जीवन म एक ऐसी खाई है जिसे उनका बचपन का दोस्ती का एहसास भी पाट नही पाता। क्लर्क हीनताग्रन्थि से पीडित है। वह अपने अफसर दोस्त के सामने दब जाता है, उसकी सहजता खत्म हो जाती है। वह कहता भी है 'मैं हर अफसर और क्लर्क को पहले अफसर और क्लर्क मानता हूँ बाद मे दोस्त, भाई और ससुर।' क्लर्क की पत्नी को 'फिक्सेशन' दूसरे प्रकार की है जो अफसर की मानसिकता के अनुरूप बैठती है। लेखक ने सम्बन्धो के इस मानसिक जटिल रूप को अत्यन्त सहजता से व्यक्त किया है। इसी तरह क्लर्क कहानी मे क्लर्क के बद्धमूल सस्कार या मिजाज को पकडने की कोशिश की गई है। क्लर्क के अफसर बन जाने के दौरान की मनोवेदना और मानसिकता, दफ्तरी माहौल के यथार्थ के साथ-साथ इस कहानी म खुलती है। बो भाई पी कहानी मे एक ऐसे मध्यम श्रेणी के व्यक्ति का चेहरा उघडता है जो सूक्ष्म मानसिक सतह पर परजीवी है और दोहरी मानसिकता मे जी रहा है। वह जिस बडप्पन को ओढता है उससे उसकी स्थिति और ज्यादा करुण हो उठती है। गाउन औसत दर्जे की कहानी है। इसम लेखक ने शायद नए पुरान के बीच के तनाव को अभिव्यक्त करना चाहा है पर तनाव की जगह कहानी मे सुनीता की मन-स्थिति अधिक उभरी है। लेखक को जिस तनाव की अभिव्यक्ति अभिप्रेत थी, उसका कोई बिंब नही उभरता।

इस सग्रह की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानी रिश्ता है। यह मानवीय रिश्ते की विडम्बना की कहानी है। मनसे और गिरधारी मे सगे-पुत्र का रिश्ता है भी और नही भी है। माँ और पुत्र के वात्सल्य की पूरी 'मिथ' यहां गायब है। सम्बन्धो मे न कही कृत्रिमता है न औपचारिकता। एक ठेठ और बेलौस जिन्दगी है। गिरिराज किशोर ने इस जिन्दगी की दहला देने वाली झाँकी इस कहानी म प्रस्तुत की है।

गिरिराज किशोर की कहानियां रचना-विधान की दृष्टि से सीधी-सादी हैं पर वे सम्बन्धो के क्रूर अराजक ससार को खोलती चलती हैं।

परिवेश का यथार्थ और कला का अनुभव

रचनाकार के लिए (जो परिवेश को अन्तर्मन के स्तरों पर भोगता है।) परिवेश कोई ठोस भौतिक स्थिति नही, अनुभव का एक अविछिन्न हिस्सा है। इस अनुभव के साथ तात्कलिक और स्नायुविक उत्तेजनाएँ जुडी रहती हैं जो उसके कला का अनुभव बनने के रास्ते मे आड़े आती हैं। परिवेश का सीधा अनुभव कला का अनुभव नहीं बनता। कला-प्रक्रिया अनुभव को तात्कालिकता और निजबद्धता से मुक्ति दिलाती है। इस अर्थ मे ही रचनाकार की दृष्टि की भी सगति है। रामदरश मिश्र की कहानियाँ (कहानी सग्रह खाली घर ज्ञान भारती प्रा० लिमिटेड) ही लें जिन मे कला अनुभव और जीवन दृष्टि का वैशिष्ट्य है, भले ही यह वैशिष्ट्य अपने मूल रूप मे रागात्मक कोटि का है। इससे उनकी कहानियो मे 'वस्तु की विविधता तो है पर यह विविधता बोध के विभिन्न स्तरो की नही है। सभी कहानियो मे, सन्दर्भों की भिन्नता के बावजूद भावात्मक सबधो का द्वन्द्व व्याप्त है जिसे रागात्मक दृष्टि बाँधे हुए हैं। उदाहरण के तौर पर कुछ कहानियाँ देखी जा सकती हैं। चिट्ठियों के बीच कहानी मे निजी और गाँव की परेशानियों के बीच फँसे व्यक्ति का चित्रण है। कहानी का डा० देव शहर मे रहता है पर 'घर से' गाँव से जुड़ा हुआ है, समझ से नही, एक आतरिक राग-बध से। शहर मे रहते हुए उस पर परिवार की जरूरतो के, गाँव मे रह रहे अपने आत्मीय जनों के, और परिस्थितियो के दबाव हैं। ये दबाव भावात्मक सबंधों को तनावपूर्ण बना जाते हैं। सबधो का तनाव और द्वन्द्व इस कहानी मे मानसिक स्तरो पर फैलता चलता

है। जिसे लेखक ने रागात्मक रचना-दृष्टि से संयोजित करना चाहा है। इस दृष्टि को लेखक के आत्मीय अनुभव निर्धारित करते हैं जिनके मूल प्राथमिक बोध से लेखक स्वयं को नहीं काट पाता और उस हद तक तटस्थ नहीं हो पाता। मिश्रजी की कहानियों में, इसीलिए रागात्मक और एक गहरी संपृक्ति का भाव है। इस भाव को लेखक ने सन्दर्भों में अनुभव के सघन रूपों से जोड़ा है अपनी कहानी **मां सन्नाटा और बजता हुआ रेडियो** में। इस में गाँव से जुड़े व्यक्ति का दर्द व्यक्त है जिसे लेखक ने एक वृहत्तर आयाम में प्रस्तुत किया है। बाढ़ आने और अकाल पड़ने से गाँव की जो दुर्दशा होती है और जो त्रासदी वहाँ घटती है, उसका बड़ा यथार्थ चित्रण इस कहानी में किया गया है। गाँव की दुर्दशा और दशव्यापी पाखंड का सन्दर्भ इस कहानी की संरचना में गुथे हुए हैं। यह कहानी लेखक की संश्लिष्ट और संवेदनात्मक रचना-दृष्टि को उजागर करती है। पर, **भटकी हुई मुलाकात** कहानी में लेखक की दृष्टि रागात्मकता से एक कदम आगे बढ़ कर भावुक हो उठी है। इस भावुकता को वस्तु, कथन-प्रकार और भाषा के स्तरों पर देखा जा सकता है। **सीमा** कहानी में लेखक की रागात्मक दृष्टि संवेदनात्मक और मानवीय धरातल पर आसान है। इस कहानी में एक अभिशप्त लड़की की व्यथा को आंका गया है। प्राकृतिक उपकरण जैसे धूप पेड़, चिड़िया, चील और क्वार की दुपहर—सीमा की मानसिक दशा को उभारने के लिए आए हैं। 'चील का टिहाना' उसकी करुणा को गहराता है और उदासी का एक ध्वनि-चित्र प्रत्यक्ष हो उठता है। इस कहानी की संरचना में गुथे हुए प्रतीक और बिम्ब और भाषा का काव्यात्मक रुझान लेखक की रागात्मक रचना दृष्टि की गवाही देते हैं।

इस संग्रह में कुछ अन्य कहानियां भी हैं जो गाँव और शहर के रागात्मक अन्तःसंबंधों से जुड़ी हुई हैं जैसे **खाली घर, एक और यात्रा, खंडहर की आवाज, एक औरत . एक जिन्दगी, बादलों भरा एक दिन, छूटता हुआ नगर और मुक्ति** इन में से **खंडहर की आवाज और मुक्ति** उल्लेखनीय कहानियां हैं जिन में रचना-दृष्टि का व्यापक और तटस्थ रूप है। **खंडहर की आवाज** कहानी के पीछे भी एक प्रौढ़ दृष्टि है जो गाँव के स्कूल और उस से जुड़ी स्मृतियों में पंडित जी के व्यक्ति-चित्र को उभारने के बहाने, समस्त सांस्कृतिक विघटन को प्रत्यक्ष कर देती है। **मुक्ति** कहानी में लेखक की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक संतुलित और तटस्थ है। इस कहानी में चंदा की यौन-वासना और किसी के साथ उस का भाग जाना, यांत्रिक और व्यापारिक जीवन-पद्धति की गिरफ्त से मुक्त होने की उस की तीव्र छटपटाहट को व्यक्त करता है।

रागात्मक दृष्टि अपनाने से यह खतरा जरूर रहता है कि कहीं एक पक्ष अधिक चटकीला और अतिरंजित न हो जाए। लेखक ने इस खतरे से बचने की भरसक कोशिश की है पर एकाध कहानियों में (जैसे लाल हथेलियां) मूल संवेदना सपाट और सरलीकृत हो गयी है और 'ट्रीटमेंट' एकपक्षीय लगता है। पिता कहानी में

भी दो पीढियों के अतर को अतर्द्वन्द्वो के माध्यम से अतिनाटकीय बना दिया गया है और एक बात इस कहानी को वास्तव' का 'एस्थैटिक' अनुभव नही बनने देती।

इन कहानियो मे गाव और शहर के दोहरे सन्दर्भो मे जी रहे व्यक्ति की छटपटाहट और पीडा व्याप्त है। इनमे निजी और गाव की अथवा गाँव और शहर की परेशानियो, विभीषिकाओ और विघटित स्थितियो का चित्रण किया गया है। ये कहानियाँ सिर्फ गाँव या सिर्फ शहर की कहानियाँ न हो कर गाँव और शहर की सक्रान्त चेतना की कहानियाँ है।

वेद राही की कहानियो का ससार महानगर का जटिल और उलझा हुआ ससार' है जिसे उसने सबधो के धरातल पर 'परिकल्पित' किया है। उस ने अपने परिवेश की घटनाओ और स्थितियो को कहानी के रचना-विधान मे गूथ कर इस ससार को उजागर किया है। वे अपने परिवेश की घटनाओ या स्थितियो को ले कर कहानी की बुनाई म जुटते हैं (कहानी-सग्रह दरार, उमेश प्रकाशन, दिल्ली) और उन के माध्यम से किसी जटिल मन स्थिति को उभारने और सप्रेषित करने का प्रयत्न करते हैं।

वे परिवेश के यथार्थ को घटनाओ और स्थितियो के सयोजन के माध्यम से व्यक्त करते हैं और कहानी के सरचनात्मक विधान मे (इस सग्रह की तीन कहानियाँ दरार, हर रोज और बर्फ के सदर्भ में ऐसे सकेत देते चलते हैं जिससे कहानी की भौतिक स्थिति जटिल मन स्थिति का बोध कराती जाती है। इस सग्रह की एक कहानी दरार लें। ऊपर से देखने से लगता है कि यह युद्ध की कहानी है पर यह युद्ध की कहानी न हो कर युद्ध के भय और आतक से बनी मानसिकता और उससे उत्पन्न सबधो में व्याप्त हो जाने वाले मनोवैज्ञानिक तनाव और दूरी का बोध कराने वाली कहानी है। भावात्मक तनाव की स्थिति मे ध्यानसिंह का आत्मरक्षा के मोह में पड कर प्रजनन पीडा से तडप रही अपनी पत्नी लज्या को छोड कर भाग जाना और फिर खतरे के टल जाने की सूचना पा कर उसके पास लौट आना, सबधो के भावात्मक रूपान्तरण की ओर सकेत है। ध्यानसिंह और लज्या के सबधो में सूक्ष्म मानसिक धरातल पर पड़ने वाली इस दरार की ओर कहानी के अत में सकेत किया गया है 'वह कह रहा है लेकिन चाह रहा है, लज्या उस की बात न सुने। लज्या सब जानती है, ध्यानसिंह को मालूम है। वह लज्या की ओर देख भी नही पा रहा। उस ने कनखियो से देखा—वह उस के साथ-साथ चल रही है। दोनो के बीच एक हाथ की दूरी है पर ध्यानसिंह का लग रहा है वह लज्या से बहुत दूर हो गया है—बहुत ही दूर। एक वृहत्तर सदर्भ मे सबधो मे व्याप्त हो जाने वाली दूरी को लेखक ने कलात्मक अभिव्यक्ति दी है। यह किसी चालू धारणा या मुहावरे की देन न हो कर ठोस यथार्थ सदर्भ से उत्पन्न बोध है जो कहानी के आन्तरिक स्तरो मे रचा हुआ है।

इस संग्रह की एक अन्य कहानी है हर रोज जो आज के नगर जीवन की यान्त्रिकता और भयावहता का बोध कराती है। साठे रोज सुबह साढे आठ बजे बोरावली से ट्रेन में बैठता है, चर्च गेट पर उतरता है, शाम को चर्च गेट से बोरावली की ट्रेन पकडता है और घर पहुँचता है। हर रोज़ का यह यांत्रिक क्रम उसे भीतर से सोख रहा है। मानव कला और सहानुभूति उस के लिए निरर्थक हो गये है। साठे देखता है– ट्रेन के दरवाज़े पर खडे, आँखें बंद किए एक व्यक्ति को जो गाडी की तेज गति के साथ झूल रहा है। साठे सोचता है इस तरह से झूलता हुआ वह आदमी किसी समय भी बाहर गिर सकता है। क्यों न बाह पकड कर वह उसे सीट पर बैठा दे। साठे ने आगे बढना चाहा, पर रुक गया, ख्याल आया कि यह तो आम बात है। उसकी सोच का रुख ही बदल गया। और वह आदमी चलती ट्रेन के दरवाजे के पास झूलता हुआ गिर गया और मर गया। महानगर मे सहानुभूति शून्य होते जाने का यह रोज का क्रम है जिसके माध्यम से लेखक ने मानव नियति को भयावहता का साक्षात्कार कराया है।

घटना-संयोजन को अभिव्यक्ति के एक साधन के रूप में अपनाने से यह डर बना रहता है कि कही लेखक कथ्य के सरलीकरण या सपाट कथन का शिकार न हो जाए। रिश्ता, दुर्घटना और घाव ऐसी ही कहानियां है जिन मे संवेदना सरलीकृत है और अभिव्यक्ति सपाट। इन की 'वस्तु' मे भी नवीनता नहीं है। बर्फ कहानी का कथ्य भी नया नही है पर इस कहानी का प्रस्तुतीकरण और इसकी संरचना कलात्मक है जिससे वस्तु का पुरानापन खटकता नही। इस कहानी मे कथ्य का उतना महत्त्व नही है जितना गोपीनाथ की पत्नी की संवेदनात्मक स्थिति का। उसके लिए बर्फ बाहर ही नहीं गिर रही बल्कि उसके अंदर भी जम गई है। बाहरी प्राकृति और आन्तरिक प्रकृति मे कही कोई अन्तर नही रह जाता 'मीलो तक फैली हुई बर्फ उसके भीतर जमती जा रही थी।' भीतरी मौन की यह निरीह करुणा मानसिक स्थिति है जहा शब्द चुक जाते है।

इस संग्रह में फिल्मी जीवन से संबद्ध कुछेक कहानियाँ भी हैं जैसे खास-उल-खास, पचहत्तरवें वर्ष का एक दिन और आर्टिस्ट। ये कहानियाँ एक अछूते परिवेश को सूक्ष्मता से उद्घाटित से करती हैं। इस परिवेशगत बोध की प्रामाणिकता इन कहानियो मे है, भले ही यह बोध 'पचहत्तरवें वर्ष का एक दिन' और आर्टिस्ट कहानियों मे रचनात्मक न पा सका हो पर खास उल-खास मे यह बोध गहरे स्तरो पर सृजित भी हुआ है। इस कहानी मे वह की उपजीवी (पैरासाइट) प्रवृत्ति और उससे उत्पन्न निरीहता और लाचारी कलात्मक अनुभव के रूप मे उभरी है।

बदीउज्ज़मा का 'संसार' (कहानी संग्रह अनित्य) वेद राही के संसार से थोडा भिन्न है। इसम महानगरीय बोध भी है और आंचलिक भी। इनमे दोनो

की सगति या तनाव का नहीं, दोनों के प्रसग मे आदमी के कटते टूटते जाने की सवेदना व्यक्त है। बदीउज्जमा की कहानियाँ अपनी जमीन से, अपनी परम्परा से अपने रीति-रिवाजों से स्वय अपने से कटते चले जाने का तीव्र एहसास जगाती हैं। यह पुरातन से या अतीत मूल्यों से कटने और टूटने का एहसास है। इन कहानियों की सवेदना सक्रमणकालीन है जिसे लेखक ने भावुक हुए बगैर अभिव्यक्त किया है। ये कहानियाँ नए और पुराने के द्वन्द्व तथा टकराहट की कहानियाँ हैं। मोहभग के दौरान की कल्पना और पीडा की गहरी मानवीय सवेदना से कहानियाँ जगाती है।

इस सग्रह की एक कहानी है, घर। बाप-दादों के गाव (नासिरपुर) और घर से मसूद को कोई लगाव अनुभव नहीं होता। 'यहा कोई भी चीज नहीं है जिस से वह *निकटता महसूस कर सके। एकाकीपन और अजनबीपन का यह एहसास न* तो उसे कभी पटने मे हुआ जहा वह पैदा हुआ था, जहा उस का घर था और न ही दिल्ली मे जहाँ वह इतने वर्षों में रह था। उसके मस्तिष्क पर यह विचार हावी होता जा रहा था कि वह इस जगह के लिए बिल्कुल अजनबी है। नासिरपुर से उसका कोई रिश्ता नहीं है और जितनी जल्दी वह यहाँ से जा सके, अच्छा है।' मसूद का पिता गाव के घर से अब भी सस्कारों से, आन्तरिक राग लय से जुडा हुआ है पर मसूद के लिए कोई आन्तरिक सूत्र नहीं जो उसे 'घर' से कटने से रोके। लेखक ने पीढियों की समानान्तर सोच का मार्मिक चित्रण इस कहानी मे किया है। परदेसी कहानी मे यद्यपि अभिव्यक्तिगत स्थिति है तथापि यह कहानी वतन से उखडे हुए आदमी की कल्पना और यातना को उजागर करती है। छाको पाकिस्तान का नागरिक बन जाने के बावजूद अपने वतन की जमीन से उसकी गध से उसके त्योहारों, गाँव के मुहर्रम के अखाडे से अपने को आन्तरिक स्तरो पर जुडा हुआ पडता है। कहानी का 'मैं' छाको की पीडा से उद्वेलित होकर कहता है 'मैं' जानता हूँ कि कानून का जज्बात से कोई ताल्लुक नहीं है। *पर न जाने क्यों एकाएक मेरे दिमाग ने जैसे काम करना बद कर दिया है। कानून* की मोटी मोटी किताबें जैसे छाको के आँसुओं मे डूबती जा रही है और मैं रूह की गहराई मे कही सिहरन से यह महसूस कर रहा हूँ कि छाको दरअसल परदेश जा रहा है जहा की हर चीज उसके लिए अजनबी है।' लेखक ने इस कहानी मे एक अछूते क्षेत्र के लोगों के आत्म परायेपन और अजनबीपन के बोध को, गहरी मानवीय करुणा से अकित किया है। इसी तरह सिमटते साए कहानी मौलवी इसहाक की दु खद मानसिक स्थिति का हाजी अब्दुर्रहीम की सम्पन्न स्थिति के समानान्तर, बोध कराया गया है। हाजी अब्दुर्रहीम के मकान से आई हुई रोशनी को अपने आँगन मे देख कर मौलवी इसहाक तिलमिला उठता था। उनका जी चाहता—रोशनी के इस टुकडे को उखाड फेंके, इसे कभी घर मे घुसने न दे। उन्हें लगता हाजी अब्दुर्रहीम के मकान से आया हुआ रोशनी का यह टुकडा उनका मुँह चिढा रहा है। जैसे वह उनके घर का सारा हाल जानता है। जैसे उसने उनकी दुखती रग पकड ली है।

इस संग्रह की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है **चौथा ब्राह्मण**। यह कहानी आज को मानव-स्थिति को करुणाजनक ढंग से उभारने वाली है। 'मेरी ट्रेजेडी यह है कि मैं अपने उन्माद को महसूस भी करता हूँ लेकिन खुद को इससे मुक्त नहीं कर सकता। यह ट्रेजेडी सिर्फ मेरी ही नहीं, आज के हर इंसान की है। मैं जानता हूँ इस दौड़ का कोई अंत नहीं है। लेकिन पंचतंत्र की एक कथा के चौथे ब्राह्मण की तरह हम तांबा चांदी और सोने को छोड़ कर हीरों की खान की तलाश में भागे जा रहे हैं और हमारे सिरों पर एक-एक चर्खी घूम रही है। दरअसल चौथा ब्राह्मण अपने सिर पर घूमती हुई चर्खी के साथ आज हम सबकी सबसे बड़ी वास्तविकता है जिसे लेखक ने एकालाप की शैली में सरलतापूर्वक अभिव्यक्त किया है।

इस संग्रह की कुछेक कहानियां जैसे वलय, शीशमहल, बांझ, एक दायरा और विरेचन और ऋण निहायत सामान्य और सपाट कहानियाँ हैं।

श्रवण कुमार की कहानियां (कहानी संग्रह 'अंधेरे की आंखें', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ६) आस-पास के परिवेशगत यथार्थ को आकलित करने वाली कहानियाँ हैं। दफ्तर बाबू, अफसर और नव धनाढ्य वर्ग से यह परिवेश बना है। इस परिवेश से पाठक का अति परिचय है। ऐसी कहानियों के सम्बन्ध में यह डर बना रहता है कि लेखकीय संवेदना सरलीकृत न हो जाए या आत्मकथा या 'केस हिस्ट्री' न बन जाए। इन कहानियों में यह परिवेश नव धनाढ्य वर्ग का है। इस वर्ग के सम्बन्ध में लेखक ने अपनी समझ एहसास और दृष्टि को बवंडर कहानी में स्पष्ट किया है विद्रोह ! विद्रोह ! इस वर्ग के प्रति विद्रोह ही करना होगा। एक दिन तो मुझे लगा था कि मेरे नीचे से धीरे धीरे एक नया वर्ग उभर रहा है, उफनते उबाल की तरह, यानी 'नुवे रिश' वर्ग – नव धनाढ्य। वे लोग जिन्होंने किसी-न किसी तरह पैसा बटोरने की कला सीख ली है। इस परिवेश की अभिव्यक्ति लेखक गम्भीर रूप में या हल्के फुल्के मजाकिया लहजे में या व्यंग्य के अन्दाज में कर सकता है। श्रवण कुमार ने गम्भीर प्रतिक्रिया के रास्ते को अपनाया है पर शैली प्रायः आत्म-कथात्मक है। ये कहानियां रचना-स्तर पर कैसी हैं इसे कुछेक कहानियों के आधार पर रखा जा सकता है।

इस संग्रह की विरोध कहानी में दफ्तरी माहौल का चित्रण आदमी की यातना को ठहराने वाला है। इसमें एक साधारण आदमी है—अतीत के स्वप्नों और वर्तमान के दुःस्वप्नों के बीच पिसता हुआ। लेखक ने सामान्य व्यक्ति की पीड़ा और विडम्बना को इस कहानी में बड़ी सफलता से व्यक्त किया है 'कभी किसी ने फीनिक्स को बदलते देखा है ? मैं एक फीनिक्स हूँ जिसे मर कर भी जिन्दा होना है। आशा का सन्देश जो पहुँचाना है, चाहे मेरे दिल में कोई आशा न हो, यह स्थिति की विडम्बना है कि हमें दूसरों को आशा का सन्देश पहुँचाना है, भले ही हमारे दिल में कोई आशा न हो। बवंडर कहानी में लेखक केवल कथन के स्तर पर ही

नही, रचनात्मक स्तर पर भी अपनी बात कह सका है और आप देखेंगे कि कुछ दिना म आपके शरीर मे नयी हड्डिया बनने लगी हैं और उन पर नया मांस चढने लगा है। मैंने इस 'नये रिश' कलाम के सामने अपना माथा टेक दिया है। मैं गुलाम हू, गुलाम हूँ, तुम्हारा और ताउम्र तुम्हारा गुलाम रहूंगा, यदि यह सिलसिला नही बदला तो।

इस सग्रह की एक महत्त्वपूर्ण कहानी है **अन्धेरे की आंखें**। इसमे मानव स्थिति की यातना कथित न हो करके व्यजित है। उपरी अर्थ की परत के नीचे एक अधिक गहरा और व्यापक अर्थ कहानी के शुरू से लेकर अन्त तक चलता है। पटल' के चरित्र की क्रूरता कहानी म धीरे-धीरे उभरती है। वह एक ऐसा व्यक्ति है जो अपन फायदे क लिए हर चीज को निचोडने का फन जानता है, वह धोती का लगोट बनाए पहाडी नदी की शिलाओ मे अटकी हुई लकडिया निकाल लेता है और निरीह बकरी की जान ले लेता है 'एक खूटी से पिछली टागो स बधी बकरी लटक रही है और पटल' जी बडी होशियारी से धीरे-धीरे उसकी खाल उतार रहा है। यह कहानी एक औसत स्थिति या सामान्य अनुभव की कहानी न हो करके, मानव स्थिति के कलात्मक बोध की कहानी बन गई है।

इस सग्रह की कुछेक कहानिया दैनिक जीवन के सामान्य अनुभवो या व्यक्ति-के चित्रण की कहानिया बन कर रह गई हैं जैसे **धुवां, बीवियां और बीवियां, अभाव-पूर्ति, पहला दिन, भिखमगे, दबाव, नगे** आदि कहानियां। इन कहानियों मे लेखक न तो नव धनाढ्य वर्ग का चित्रण कर सकता है और न उस कार्य वर्ग की जटिल अनुभव के रूप म सम्प्रेषित कर सका है। 'मैं और वह' कहानी मे एक स्थिति यह है जिसका कोई गहरा एहसास कहानी नही करानी। 'बच्चा' कहानी आर्थिक विपन्नता म जकडे हुए पति-पत्नी की मन स्थिति का चित्रण तो करती है पर नव धनाढ्य वर्ग के प्रति स्नायुविक उत्तेजना क कारण ('कैसे कैसे इन हरामजादो से छुटकारा मिलगा ?' 'कब तक', कब तक हम इन के पंजो मे लाचार से फसते रहेंगे)' भाषा का मुहावरा तो अनिरजित बन गया है पर यह टकराहट सम्भव नही हो सकी है जो शायद लेखक को अभिप्रेत रही हो।

नगर-बोध और रचना-रूढ़ियाँ

आज की कहानी नगर-जीवन और नगर-संस्कृति के जटिल सन्दर्भों से, अनिवार्यतः, जुड़ी हुई है। नगर-जीवन की स्थितियों और संवेदनाओं का एक साथ अनेक रचनात्मक स्तरों पर अभिव्यक्त करने की कोशिश आज की कहानियों में की गई है। इन कहानियों का सन्दर्भ ही नहीं, रचना-संसार भी शहरी है। शहर में रहते हुए व्यक्ति पर दोहरे तिहरे दबाव हैं — राजनैतिक सत्ता का दबाव, यान्त्रिकता का दबाव और यौन स्वच्छन्दता की विस्फोटक स्थिति का दबाव। इससे नगर में रहने वाला व्यक्ति पाता है कि सब कुछ छिन्न-भिन्न है, विशृंखलित और विपर्यस्त है और सार्थक होने के तमाम प्रयत्न निरर्थकता की ओर ले जाते हैं। वह पाता है कि प्रेम, स्नेह, वात्सल्य, भ्रातृ-भावना और श्रद्धा आदि के युगों पुराने आद्य-संस्कार या 'आर्कटाइपल बिम्ब' अपने स्थान से खिसक चुके हैं और मिटने की प्रक्रिया में हैं। उसके सामने है मूल्यगत विघटित स्थितियों की भयावहता और उसकी अन्तश्चेतना में घर बैठा है— अकेलापन, अजनबीपन और त्रास। उसे गहरा एहसास है मानव-सम्बन्धों की जटिलता और विडम्बना का। यही नगर-जीवन और नगर संस्कृति का बोध है जिसे सर्जनात्मक धरातल पर अभिव्यक्त करने की कोशिश आज का कहानीकार करता है।

नगर-बोध की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति आज की कहानियों में किस स्तर पर हुई है या हो रही है, इस पर विचार करने के लिए तीन कहानी-संग्रहों को लिया जा

सकता है। पहला सग्रह है सिद्धेश का अर्थहीन वह मैं, दूसरा सग्रह है ज्ञानरजन का फेन्स के इधर और उधर और तीसरा है राजेन्द्र यादव का अपने पार। सिद्धेश के कहानी सग्रह अर्थहीन यह मैं की कहानियो का सन्दर्भ और परिवेश महानगर का है। इन कहानियो मे महानगर मे रहने वाले व्यक्ति की कठाग्रस्त मानसिक दशा और अर्थहीन होते जा रहे सम्बन्धो का चित्रण करने का प्रयास किया गया है। पर, इन कहानियो मे अर्थहीनता के बोध की अपेक्षा, अर्थहीनता की स्थितियो का सतही रूप, कथन और विवरण अधिक है। कुछ कहानियाँ उदाहरणार्थ देखी जा सकती हैं। पहली कहानी मन का 'वह' एक शादीसुदा व्यक्ति है जो रोजमर्रा की जड-व्यवस्था के कारण मन से मर चुका है। प्रेम फिजूल है उसके लिए और लडकी को भोगना केवल मन बहलाव। जिन्दगी के नाम पर जो कोशिश उसके मन मे थी, वह समाप्त हो गई है। इस कहानी म अर्थहीनता की स्थितियो का चित्रण तो है पर, अर्थहीनता का सवेदनात्मक धरातल यहाँ नही है। यह कहानी एक शहरी व्यक्ति के जीवन की मानसिक जडता का कथन-भर करती है, कोई बोध नही जगाती। दूसरी और तीसरी कहानियो में यौन विकृतिया और फूहड स्थितियो के विवरण दिये गए हैं। मत्स्यगध और फोडा कहानियो म कुठाग्रस्त मानसिक स्थितियो का अकन भोथरा और सतही है। लाश कहानी म सहानुभूतिशून्य मन स्थिति को आकने का प्रयास किया गया है पर दृष्टि की निष्क्रियता (तटस्थता नही) के सिवा कुछ हाथ नही लगता। नपुसक कहानी म सेक्सगत असगत स्थिति का चित्रण है। सेक्स के प्रत्यक्ष और खुले भोग को देखकर, सेक्स भावना के मर जाने या सभोग म असमर्थ हो जाने या नपुसकता की दयनीय स्थिति म शरीफाना ढग से चूमने जैसी प्रतिक्रिया कहानी के 'मैं' मे पैदा होती है। यह असगत स्थिति जितनी मानसिक निरीहता की सूचक है उतनी अर्थहीनता की नही। अहसास कहानी म एक मामूली-सी स्थिति के सन्दर्भ मे रीतापन की अनुभूति को व्यक्त करने की कोशिश की गई है। पर, यह अनुभूति अन्त मे आरोपित-सी लगती है।

इस सग्रह की तीन कहानियाँ—चेहरे, किनारा और समुद्रगाथा विशेष उल्लेखनीय हैं। चेहरे एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है जो मन प्राण से शेष हो चुका है जिसकी स्थिति घर मे और बाहर एक अजनबी की सी है। उसे कही कुछ भी 'इम्प्रेशन' नहीं मिलता है। वह मानता है कि चेहरे की कभी सही पहचान नही हो सकती क्योकि चेहरो पर हर वक्त मुखौटे चढे रहते है। उसके चेहरे पर भी हर समय एक मुखौटा चढा रहता है—प्रेमिका से बात करते हुए या पत्नी से बर्ताव करते हुए। मानवीय सम्बन्धो मे आ गई एक अजीब प्रकार की कृत्रिमता और ढोंग को उघाडकर सामने रखा गया है। मुखौटा के पीछे के नगेपन और घिनौनेपन की ओर इगित करके। कहानी के अन्त मे एक भयानक स्वप्न के जरिये आदमी के बहुरूपियापन और विकलागता का बोध कराने की कोशिश की गई है। किनारा कहानी म एक ऐसी औरत की मन स्थिति का चित्रण है जिसके लिए कही कोई अर्थ नही रह गया है।

वह जैसे किनारे लग चुकी है और नितान्त सहानुभूतिशून्य हो चुकी है। अपनी बूढ़ी माँ और संज्ञाविहीन पिता के प्रति। किनारा यहाँ खालीपन का अर्थ देने वाला प्रतीक शब्द है। समुद्रगाथा कहानी के 'मैं' की प्रेमिका और पत्नी के पिछले प्रसंगों की याद आती है—सहज आसक्ति से जुड़ी हुई। पर, कहानी के 'मैं' का यह कहना कि 'आदमी अपने मन से भले ही मर जाए, जीता दूसरे के मन से है, महज एक कथन है जिसकी संगति कहानी के पूरे 'टेम्पर' के साथ नहीं बैठती है। इन तीनों कहानियों में नगरीय जीवन में व्याप्त अर्थहीनता या व्यर्थता को, बोध के स्तर पर अभिव्यक्त करने का प्रयत्न तो है, पर इस प्रयत्न की सफलता में सबसे आड़े आती है उनकी भाषा। यह बात जोर देकर कहनी होगी कि सिद्धेश के पास शहरी जीवन के तनावों को अभिव्यक्त करने वाली भाषा नहीं है। भाषागत असमर्थता की वजह से इस संग्रह की कोई भी कहानी स्थितियों और सम्बन्धों की अर्थहीनता और तज्जनित बहुरूपियेपन, ढोंग, सहानुभूतिशून्यता का कोई गहरा बोध नहीं जगा पाती है। इसका एक कारण यह भी है कि लेखक महानगर की व्यर्थतासूचक स्थितियों और अर्थहीन होते जा रहे सम्बन्धों से 'आब्सेस्ड' है। इस 'आब्सेशन' के कारण ही इन कहानियों में यथास्थितिशीलता है। स्थितियों के प्रति लेखक के मानसिक रुख का इन कहानियों से कुछ पता नहीं चलता है। स्थितियों और सम्बन्धों के चित्रण में भी रचनात्मक वैविध्य के बजाय एक-जैसा-पन है। दरअसल व्यर्थता बोध को अभिव्यक्त करने के लिए जैसी तटस्थ और बेबाक रचना-दृष्टि चाहिए वैसी इन कहानियों में नहीं है।

ज्ञानरंजन के पास ऐसी तटस्थ और बेबाक रचना-दृष्टि है। इस रचना-दृष्टि के कारण ही उनकी अधिकांश कहानियों में वर्तमान स्थितियों और सम्बन्धों का अत्यन्त यथार्थ और प्रामाणिक चित्रण हुआ है। ज्ञानरंजन की कहानी शेष होते हुए की अन्तिम पंक्ति है 'अभी लोग पूरी तरह टूटे और बिखरे नहीं हैं। अभी संक्रान्ति और अन्जाम की तरफ केवल शुरुआत हुई है।' यह कहानी मूल्य-स्तर पर अस्तित्व संकट का बोध कराती है। इस कहानी में शेष होते हुए सम्बन्धों की प्रामाणिक पहचान कराई गई है। घर पहुँचने पर मझले की मनोदशा, माँ, पिता, भाई, बहन, भाभी का निहायत सामान्य, औपचारिक, निरुत्साहित और ठंडा रुख—वात्सल्य और स्नेह जैसी मनोवृत्तियों के स्रोत के सूख जाने का बोध कराता है। परिवार के सभी सदस्य स्वयं में सिमटे हुए हैं और एक दूसरे से अलग और कटे पड़े हैं। वे एक-दूसरे को दोष देते हैं, खीझते हैं, क्रोधित होते हैं, रोब डालते हैं और 'पोज' करते हैं 'माँ गुमसुम रहती है, पिता चिड़चिड़े। उमंग गुम गई है। पिता से टीनू तक सब अज्ञातपरिणाम वाले भविष्य के लिए वर्तमान की स्थितियाँ झेल रहे हैं।' इस कहानी में परिवार के परिपूर्ण बिम्ब के खंडित हो जाने की प्रक्रिया उपस्थित है। पारिवारिक संस्था को कायम रखने वाले जातीय-संस्कारों के अवशेष किस प्रकार समाप्तप्राय हो रहे हैं, इसकी तीव्र संवेदना जगाती है यह कहानी। पिता कहानी भी इस संग्रह की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहानी है। इस कहानी में पिता के परम्परागत 'टाइप' का बड़ा

मार्मिक चित्रण है। लेखक की दृष्टि स्थिति का पूरा-पूरा जायजा लेती है और दो पीढियो के अन्तर को सही रूप म पकडने का यत्न करती है। इसमे परम्परा के प्रति या परम्परा के प्रतिनिधि 'पिता' के प्रति घृणा उडलने या रोमाटिक किस्म का विरोध प्रदर्शित करने का भाव नही है। यहाँ पिता ऐसे है जो जीवन की अनिवार्य सुविधाओ से विहत है, झल्लाते है अपने को असम्पृक्त दिखाते है, सभी का निषेध करते हैं और निरकुश हैं। ऐसे पिता के प्रति आज के व्यक्ति की जो प्रतिक्रियाए हो सकती है, उनका वडा तटस्थ चित्रण मनुष्य से जुडे रहने की सहज वाछा की सापेक्षता म इस कहानी म किया गया है। कहानी के 'वह' को महसूस होता है कि पिता एक भीमकाय दरवाज की तरह खडे है जिससे टकरा टकरा कर हम सब निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे है। इससे उसमे असन्तोष तो है पर यह असन्तोष सवत्र सहानुभूति के सूत्र से जडा हुआ है। यहाँ टूटते हुए सम्बन्धो का चित्रण वास्तविक एव सहज है और मानवीय करुणा उभारने वाला।

इस सग्रह म अन्य कहानिया भी हैं जो नगर सस्कृति मे सम्बन्धो के टूटन की प्रक्रिया का मूल्य स्तर पर, सामाजिक सन्दर्भो म एहसास कराती है, यह बात और है कि य कहानिया शेष होते हुए, और पिता कहानियो के उच्च स्तर को न छूती हो। प्रम का मासूम सहज और रोमानी रूप जितना अटपटा और विसगत लगता है—मीरा डेज़ी और मिसेज भटटाचार्य के प्रौढ प्रेमालापो के व्यावहारिक और यथार्थ-सन्दर्भो म - यह रोचक ढग से कथित है दिवास्वप्नो कहानी मे। कलह कहानी मे एक कुवारी लडकी की माता पिता के प्रति प्रतिक्रियाएँ व्यक्त है। वह पिता के पत्नी से इतर यौन सम्बन्ध और पत्नी के प्रति उनके दुर्व्यवहार को जानती है। एक कुवारी लडकी के मानसिक तनाव और उसकी द्वद्वपूर्ण मन स्थिति का चित्रण इस कहानी मे किया गया है। फेंस के इधर और उधर कहानी म दो पीढिया के अन्तर और अजनबीपन को बिना भावुक हुए व्यक्त कर दिया गया है। खलनायिका और बारूद के फूल कहानी म प्रेम की एक परस्पर विरोधी स्थिति का बड़ा सहज चित्रण है।

इस सग्रह म कुछ कहानियाँ ऐसी हैं जो पाठक को अप्रभावित छोड जाती है। उदाहरण के तौर पर आत्महत्या कहानी म आत्महत्या का कोरा कथन या विवरण ही है। सीमाएँ म अच्छे-खासे कहानीपन के सिवा कुछ नही है। दिलचस्पी कहानी मे किशोरिया की प्रेमासक्ति या दिलचस्पी का कौतूहलवर्धक चित्रण है। शेष तीन कहानियाँ बेहद सामान्य हैं—उनमे विकृतियो का चित्रण है या एक खास मन स्थिति मे पडे पात्रा की उधेडबुन। ऐसी कहानियो से शहरी जीवन के तनावा की कोई पहचान नहीं हो पाती है।

राजेन्द्र यादव की कहानियो का रचना ससार निर्मल और ज्ञानरजन की कहानियों के रचना-ससार से भिन्न है। उनकी कहानियों की तर्ज भी भिन्न है और तेवर भी। एक प्रतिष्ठित कहानीकार होने के नाते उनकी रचना रूढ़ियाँ हैं जिनसे मुक्त होने की कोशिश वे नहीं करते या कोशिश के बावजूद मुक्त नही हो पाते।

अपने पार की अधिकांश कहानियाँ इस बात की सबूत हैं कि एक अच्छा-भला लेखक स्वनिर्मित रूढ़ियों से *'कन्डीशन्ड'* होकर समय के जीवन्त सन्दर्भों से कैसे कट जाता है और सिमट करके रह जाता है अपनी ही रचनाशीलता के कछुवा-धर्म में। उनकी कहानियों में मध्यवर्ग की रूढ़ परिकल्पना है। मध्यवर्ग के व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों में, गहरे स्तरों पर जो परिवर्तन पिछले वर्षों में घटित हुए हैं, उन्हें या तो वे अनदेखा कर देते हैं या उनका चित्रण सतही ढंग से करते हैं—मध्यवर्ग की टाइपगत या रूढ़ अवधारणा के कारण। इन कहानियों को ज्ञानरंजन की कहानियों के समानान्तर रख कर देखें तो यह बात और भी उभर कर सामने आती है। ज्ञानरंजन की कहानियाँ जहाँ मध्यवर्गीय ज़िन्दगी के परिवर्तित और जटिल रूप का बोध तटस्थता और प्रामाणिकता से कराती हैं, वहाँ राजेन्द्र यादव की कहानियाँ मध्यवर्ग की ऐसी धारणा के गिर्द रची गई हैं, जो आज से १५-२० वर्ष पहले के परिवेश से उपजी थी। इस बीच मध्य-वर्ग का साधारण व्यक्ति कितना पिटा है, हताश और त्रस्त हुआ है, इसका बोध ये कहानियाँ नहीं करातीं हैं। संग्रह की कुछ कहानियों के सन्दर्भ में इस बात को लक्षित किया जा सकता है। **मेहमान** कहानी का 'मैं' एक क्लर्क है जो अपने को निरीह और हीन महसूस करता है एक बड़े आदमी के सामने जो उसका मेहमान बना है। मेहमान के बड़प्पन से वह जैसे आतंकित है। उसे लगता है कि जो कुछ वह बोलेगा वह निहायत ही छिछला और व्यर्थ होगा। पर, कहानी से मेहमान का कोई बिम्ब नहीं उभरता है। मेहमान यहाँ अमूर्त रह गया है। मेहमान की मानसिक स्थिति और जटिल स्वरूप का यदि बिम्ब उपस्थित हो पाता तो कहानी के 'मैं' की हीनता को एक सन्दर्भ मिल जाता। कहानी की सरल और सपाट बुनावट भी एक क्लर्क और बड़े व्यक्ति के बीच के फासले को, संवेदनात्मक धरातल पर, उभरने नहीं देती। दायरा कहानी के मूल कथ्य की बाबत किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती—शहरी जीवन में सम्बन्धों का यही वृत्त रह गया है। पर, कहानी का रचना-विधान ऐसा है कि कहानी यथार्थ की ऊपरी पर्त को खरोंचती भर है। **रिमाण्डर** कहानी का कथ्य यह है कि सम्बन्धों में उन्मुक्तता लुप्त हो रही है और कृत्रिमता और औपचारिकता आ रही है। इस कथ्य का इकहरा रूप कहानी में अवश्य उभरा है पर आज के सन्दर्भों को देखते हुए इस प्रकार के कथ्य की जैसी संश्लिष्ट अभिव्यक्ति होनी चाहिए, वैसी यहाँ नहीं है। **चुनाव, आत्म साक्षात्कार और शहर की यह रात** 'गढ़ी' हुई कहानियाँ हैं। इन कहानियों में सरलीकृत और सामान्यीकृत संवेदना अभिव्यक्त है जिसे यथार्थ और जटिल सन्दर्भों से जुड़ी हुई नहीं कहा जा सकता।

बदलते हुए सम्बन्धों की अभिव्यक्ति इन कहानियों में बिल्कुल न हो, ऐसी बात नहीं है। ऐसे सम्बन्धों का चित्रण और विश्लेषण यादव ने मनोविज्ञान के सहारे करने की कोशिश की है। यों, पिछली पीढ़ी के कई प्रसिद्ध लेखकों ने यह काम खासी गम्भीरता से किया है। ऐसा चित्रण और विश्लेषण करते हुए कई बार सम्बन्धों और मन स्थितियों पर मनोवैज्ञानिक सूत्रों और नुस्खों का हावी हो जाना नितान्त सम्भव

है। डेढ़ पृष्ठ की कहानी अपने पार ही लें। (पिता से वंचित) बच्चा माँ के साथ लेटा है, वह उसे चूमता है, उससे लिपटता है, उसकी छातियों पर सदकर, उसके पल्ले से आँखें पोंछता है। उसे लगता है कि वह पापा है और माँ भी ध्यान से देखकर कुछ याद करने की कोशिश करती है। यही 'अपने पार' देखना है। स्पष्ट है कि मनो-विज्ञान के एक निष्कर्ष को लेकर कहानी 'बनायी' गई है और उसे सूत्रबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का कौशल दिखाया गया है। अनुपस्थित सम्बोधन में एक जवान लड़की है—सीमा जिसमें यह मानसिक ग्रन्थि बद्धमूल हो चुकी है कि वह माँ जैसी है, माँ का ही प्रतिरूप है। इस ग्रन्थि से वह पीड़ित है और उसका व्यक्तित्व इससे ग्रसित है। यही उसके दिमाग में ठुकी कील है जिसे उसके प्रेमी विन्दी ने देख लिया है। माँ और तेज अंकल के सम्बन्ध इस ग्रन्थि की जकड़न को और मजबूत कर जाते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि लेखक ने सीमा की ग्रन्थिबद्ध मन:स्थिति का चित्रण प्रत्यन्त प्रभावशाली ढंग से किया है। पर, यदि सीमा के मन में मानसिक ग्रन्थि से मुक्त होने की सहज आकांक्षा भी उभरती हुई दिखायी जाती तो उसका जटिल रूप सहज प्रतीत होता। भविष्य के पास मंडराता अतीत संग्रह की एक सशक्त और सफल कहानी है। पति-पत्नी के सम्बन्धों में तनाव आ जाने से विच्छेद जरूरी हो गया। विच्छेद के अनन्तर पति की दारुण मानसिक अवस्था का आकलन इस कहानी में है। दाम्पत्य प्रेम की अर्थहीनता तो उसने समझ ली, पर बच्चों के लिए अपार स्नेह से उद्वेलित अपने हृदय को कैसे समझाये? टूटते हुए सम्बन्धों और भ्रष्ट होते हुए मूल्यों के सन्दर्भ में वात्सल्य भाव की यह 'करुणा' यथार्थ और आकर्षक है और लेखक ने इस 'करुणा' को बड़े संयम से अभिव्यक्त किया है।

समकालीन
रचना-संदर्भ

आज का उपन्यास : जटिल मनःस्थिति से भयावह मानव-स्थिति तक

इधर के कुछेक उपन्यास मेरे सामने हैं। इन्हें पढ़ने से लगता है कि ये नई चुनौतियों के आमने-सामने हैं और इस से उपन्यास की परम्परागत धारणा में परिवर्तन आ रहा है। घटनाओं, प्रसगो और चरित्रों वाला पुराना चौखटा टूट रहा है और राजनीतिक-सामाजिक स्थितियों के ब्यौरे अब उपन्यास के लिए महत्त्वहीन बनते जा रहे हैं। इन उपन्यासो के अन्दर की हलचल से इसकी पुरानी भाषा-शिल्प-सरचना अप्रामाणिक हो गयी लगती है। ये उपन्यास एक भिन्न धरातल पर और एक भिन्न दिशा में प्रयोग की सूचना दे रहे हैं।

ये उपन्यास बाह्य स्थितियों की अपेक्षा अन्त स्थितियों या मन स्थितियों या मानव-स्थितियों को केन्द्र मे रखकर लिखे गये हैं। इनमे बाह्य और आन्तरिक स्थितियों में एक सर्जनात्मक रिश्ता बैठाने की कोशिश की गई है। ममता कालिया का बेघर, कृष्णा सोबती का सूरजमुखी अन्धेरे के, गिरिराज किशोर का यात्राएँ, मुक्तिबोध का विपात्र और बदीउज्ज़मां का एक चूहे की मौत उपन्यासो मे इस कोशिश को देखा जा सकता है। ये उपन्यास एक ओर जटिल या उलझी हुई मनःस्थितियो या मनोग्रन्थियों के शिकजे में जकडे हुए व्यक्तियो की जीवन-स्थितियों या मनोदशाओं से सम्बद्ध हैं तो दूसरी ओर मानव-स्थितियों की क्रूर और निर्मम सच्चाई भी इन उपन्यासो मे अभिव्यक्त है। पहले कुछ ऐसे उपन्यास लें जिनके मुख्य पात्र एक संस्कारबद्ध या बद्धमूल मानसिकता से पीडित हैं। इस मानसिकता की प्रकृति इन उपन्यासो मे भिन्न-भिन्न है। इसके रूप और स्तर भी अलग-अलग हैं। यह

मानसिकता बेघर मे एक नैतिक-पारिवारिक किस्म की है, **सूरजमुखी अंधेरे के** मे एक यौन प्रश्न के रूप मे है और यात्राए मे यह मानसिकता यौन आचरण की एक विशेष स्थिति से निर्मित है।

बेघर उपन्यास परमजीत के कोण से या उसके माध्यम से कहा गया है और वही इसका केन्द्रीय चरित्र भी है। दिल्ली से बम्बई मे आकर वह पाता है कि वह नितान्त अकेला है। यह अकेलापन उसे सजीविनी के इर्द-गिर्द भी दीखता है। सजीविनी का अकेलापन कही उसके अपने अकेलेपन से टकराता है और उसके साथ प्रेम-बन्धन मे बधकर उसे महसूस होता है कि वह अकेला नही, बम्बई बडी और अजनबी नही है। शहर अब उसका व्यक्तिगत मित्र हो गया था। बम्बई की विशाल व्यस्तता मे सजीविनी उसे अपनी ही तरह एक उदास, विसगति के समान लगी थी। पर, परमजीत की कुआरेपन की धारणा उसकी जीवन-दिशा को बदलकर रख देती है। जब वह सजीविनी को अपनी धारणा पर खरा उतरता नही पाता तो वह उससे सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है। सजीविनी के साथ सम्पर्क होने के बाद जिस अकेलापन से उसे निजात मिली थी, वह अकेलापन दुगुने रूप मे उसके पूरे अस्तित्व को निगलने लगता है 'इतनी भीड के बावजूद परमजीत ने अपने आपको भयानक रूप मे अकेला पाया। उसे अब अकेलेपन से तकलीफ होने लगी थी। वह परिचित-दोस्तो की भीड में बैठे-बैठे अकेला हो जाता।' पर सस्कारबद्धता के कारण वह सजीविनी से समझौता नही कर पाता। इसी सस्कार के कारण वह रमा से विवाह कर लेता है और अपनी समस्त निजता गवा बैठता है 'रमा के साथ विवाह होने के बाद परमजीत को लगा कि वह किसी कसाई के हाथो में पड गया है और मिमियाने के अलावा कुछ नही कर सकता।' एक अच्छा औसत पति और एक अच्छा औसत बाप तो वह बन गया, पर अपनी पहचान ही उसके लिए मुश्किल हो गयी।

यह सस्कारबद्ध व्यक्ति के तनाव और यातना की स्थिति है और यही इस उपन्यास की महत्त्वपूर्ण केन्द्रीय स्थिति भी है। यह स्थिति तब खुलना शुरू होती है जब परमजीत सजीविनी से सभोग के बाद पाता है कि वह पहला नही है . 'वे लोग छूटकर अलग हुए तो सजीविनी जल्द-जल्द कपडे पहनने लगी। पर परमजीत बैठा रह गया, परास्त, आस-पास घूरता हुआ-सा। उसके पाँवो तले फर्श ठण्डा और सख्त था और ऊपर पखे की गर्म हवा उसका दम घोट रही थी।' उसने कहा, 'तुमने मुझे पहले क्यो नही बताया ?' परमजीत ने लडकियो के कुआरेपन की पहचान चीख-पुकार और खून मे सम्बद्ध की थी। जब वह ऐसा कुछ नही कर पाता तो उसे बेतरह तकलीफ होती है। पहला न होने की निराशा के सन्नाटे के साथ उसे अपनी जिन्दगी का नक्शा मुडा हुआ दिखाई दे रहा था। 'वह दुर्घटनाग्रस्त आदमी की तरह सन्न बैठा रहा। सजीविनी को देख-देखकर वह चकित हो रहा था। वही लडकी थी। बिल्कुल वही। पर कितनी अलग लग रही थी। इतनी थोडी दूर बैठे हुए भी वह मीलो दूर

जा पड़ी थी।' उसे गुस्सा नहीं आ रहा था, खीझ भी नहीं, पर वह हार गया था। हार का यह एहसास उसकी एक मानसिक ग्रन्थि की उपज है जो उसके नैतिक-पारिवारिक संस्कारों से बनी है। इस ग्रन्थि के शिकंजे में जकड़ा हुआ वह एक ओर तो सजीविनी से अपने को पूरी तरह काट लेता है और दूसरी ओर रमा से विवाह करके पहला होने के गर्व की पूर्ति करता है। पर इसके लिए उसे बहुत बड़ी कीमत चुकानी पड़ती है। उसे अपने विरुद्ध जाना पड़ता है और अपनी नजरों में अपनी पहचान खोने की यन्त्रणा को भोगना पड़ता है। परमजीत की संस्कारबद्ध मन स्थिति इसीलिये घोर वैयक्तिक स्तरों पर निर्मित कोई 'फिक्सेशन' नहीं है। यह संस्कारबद्धता नैतिक-पारिवारिक स्तर की है जो उसकी अस्तित्वगत चेतना से टकराती है। यह टकराहट गहरे और जटिल स्तरों पर नहीं, निहायत सामान्य स्तरों पर अभिव्यक्त है। परमजीत की हार्ट फेल से मृत्यु को इतनी सी या इस स्तर की टकराहट के बल पर विश्वसनीय नहीं बनाया जा सका है। इसके लिये यह टकराहट अन्तरात्मा के गहरे या बुनियादी स्तरों पर संक्रमित होनी चाहिये थी। परमजीत की टकराहट को बाह्य परिवेश की सामान्य स्थितियों में उलझाकर अस्तित्व की उन खोखली हुई, बेलौस स्थितियों को उजागर नहीं किया जा सका है जिससे उसकी मृत्यु जीवन की पूरी संगति मे उभरती।

उपन्यास का कथ्य जहाँ एक संस्कारबद्ध या तनावपूर्ण मन स्थिति हो वहाँ घटनाबहुलता या प्रसंगों की प्रचुरता के लिए कोई गुंजाइश नहीं रहती। केवल वही घटनाएं और प्रसंग आवश्यक होते है जो उस मन स्थिति के साथ एक अनिवार्य संगति लिए हुए हों। ऐसे उपन्यासों में घटनाओं और स्थितियों को एक आन्तरिक तर्क-संगति में नियोजित करते समय उनके रूढ क्रम को तोड़ना जरूरी हो जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि एक बद्धमूल मन स्थिति को उपन्यास के कलेवर में बाँधते हुए भी ममता कालिया पुरानी वर्णन-प्रणाली और औपन्यासिक संरचना के पिटे पिटाये ढर्रे से क्यों चिपकी रही? उस मन स्थिति के समानान्तर भाषा का अत्यन्त सहज प्रयोग करने के बावजूद लेखिका सर्जनात्मक अभिव्यक्ति के योग्य शिल्प की तलाश क्यों नहीं कर सकी? सारी कथा सीधे और सिलसिलेवार ढंग से कही गई है। बम्बई जाने से पूर्व दिल्ली में परमजीत की मनोदशा या उसके घरवालों का जैसा वर्णन इस उपन्यास में है वह अत्यन्त साधारण है और परमजीत की बाद की रुचियों और मनोदशाओं के लिए कोई उपयुक्त भूमिका नहीं बनता। इसी तरह रमा की बहन का पूरा प्रसंग भी फालतू विवरणों से भरा हुआ है। बड़े उपन्यास में तो ब्यौरे खप भी सकते है, पर लघु उपन्यास का रचाव और सर्जनात्मक परिकल्पना इस तरह के ब्यौरों के लिए गुंजाइश नहीं छोड़ती। कई बार होता यह है कि कथ्य इकहरा या कहानी में समा जाने योग्य होता है, पर लेखक उसे अनेक प्रसंगों और ब्यौरों द्वारा खींचकर कथा को विस्तार देता है। इस उपन्यास में भी ऐसा ही हुआ है जिससे संवेदना और औपन्यासिक-तन्त्र में एक द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा हो गयी है। लगता है, यह ममता कालिया के उपन्यासकार का नहीं, कहानीकार का उपन्यास है। कहानी की संवेदना को उपन्यास के रूप मे

फैलाने के कारण ही लेखिका को एक घटना-बहुल बाह्य परिवेश को प्रश्रय देना पड़ा है, नहीं तो उपन्यास का कथ्य अधिक आन्तरिक सरचना की मांग करता था, यानी इस तरह के कथ्य को, स्थितियो और चरित्रो को, आन्तरिकता की ओर उन्मुख करके सृजित करने की जरूरत थी।

कृष्णा सोबती के उपन्यास **सूरजमुखी अधेरे के** में भी एक बद्धमूल मानसिक ग्रन्थि है। रत्ती एक जटिल मनोग्रन्थि की गिरफ्त में है। वह तीव्र इच्छा से भर उठती है और हताश हो अपने में ही लौट आती है, अपने से टकराती है, सघर्षरत होती है, लड़ाई लड़ती है, कही बाहर नही – बाहरी शक्ति से नही—अपने से ही — गहरे मे कही भीतर – अपनी ही मानसिक ग्रथि से जिस के कारण वह सिर्फ एक चिथड़ा है जिस से वह एक बार भी समूची आरत नही बन पाती 'हर बार कहीं पहुच सकने की न मरने वाली चाह और हर बार वीरान वापसी अपनी ओर।' केशी उस से कहता भी है 'हमेशा अपने स अपने अन्दर लड़ते रहने का कोई फायदा नही लड़ाई को अपन से बाहर रख कर लड़ना हमेशा अच्छा है।' पर रत्ती भीतर की लड़ाई को बाहर नहीं मोड़ पाती। बाहर मोडने की उसकी हर कोशिश एक भ्रम-जाल बनकर रह जाती है 'जिस सड़क का कोई किनारा नही रत्ती वही है। वह आप ही अपनी सड़क का 'डैड एन्ड' है, आखिरी छोर है। उसके लिए भविष्य का अर्थ मिट चुका है।

निस्सदह, यह मानसिक बद्धमूलता की एक जबरदस्त स्थिति है। बचपन मे बलात्कार किए जाने के बाद वह देह स उत्तेजनाहीन, ठडी या 'फ्रिजेड' हो गयी। उसका व्यवहार और आचरण असामान्य हो गया। मानसिक स्तर पर यौन-सबधो के लिए सक्रिय रहन हुए भी वह शारीरिक स्तर पर काठ हो गयी। उस के सम्पर्क म आन वाल पुरुष रोहित, वाली, राजन, श्रीपत उसके व्यवहार मे निराश और हताश हो जाते हैं। रोहित और वाली को वह ठडी और मनहूस औरत लगती है और राजन उस स कहता है, 'मुझे हमेशा शक था कि तुम औरत हो भी कि नही।' और श्रीपत कहता है, 'तुम जम हुए अधेरे की वह पर्त हो जो कभी उजागर नही होगी। पर यह अधेरे की पर्त दिवाकर के साथ सभोग मे प्रवृत्त होकर उजागर हो उठती है। वह रोमाचित, पुलकित और बावली हो जाती है। उस की तीव्र क्षणों की यह घोर रोमानियत की प्रवृत्ति उस की मन स्थिति को देखते हुए, अटपटी और विचित्र लगती है। सभोग के बाद की उसकी प्रतिक्रिया भी लिजलिजेपन की हद तक भावुकतापूर्ण है।

इस उपन्यास की अन्तिम परिणति भी बडी असगत प्रतीत होती है। रत्ती *निराधार का सहारा लेकर दिवाकर के साथ रहने से इन्कार कर देती है*, वह आधार अत्यन्त बोदा और थोथा है और उपन्यास मे रत्ती की मन स्थिति की जटिलता की सगति म नही है। एक जटिल और उलझावपूर्ण मन स्थिति को इस

ढंग की सरल सपाट-नैतिक अभिव्यक्ति ने तथा अन्त की मनसिवत सी मुद्रा ने, एक अच्छे भले उपन्यास को चौपट करके रख दिया है।

गिरिराज किशोर के उपन्यास यात्राएं में एक भिन्न किस्म की मन स्थिति है। यह स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी के यौन सबंधो की एक अलग ढंग की मन स्थिति है। विवाह के बाद की पहली रात है और कन्या प्रस्तुत नही हो पाती। पत्नी का यह कहना, 'क्या हम एक-दो रोज रुक नही सकते', पति के उत्साह को ठंडा कर देता है। कन्या की स्थिति बड़ी विचित्र है। वह सवेरे ताजा, जीवित और जगी हुई सी लगती थी। दिन के उतार के साथ उसका उतार भी शुरू हो जाता था और रात होते होते वह समाप्त हो जाती थी। कन्या के बार-बार उसे टालने से, शारीरिक स्तर पर ठंडा और उत्तेजनाहीन बने रहने से उपन्यास का 'मैं' मानसिक और शारीरिक रूप से निरन्तर पुंसत्वहीन होता जाता है। कन्या की संबंध के प्रति विरक्ति 'मैं' की उत्तेजना को खत्म कर देती है। वह गर्म होते होते ठंडा होता जाता है। कन्या के साथ सोते हुए, उस के शरीर से सटा हुआ रहते हुए भी, वह शिथिल पड़ा रहता है। महत्त्व की बात यह है कि यहाँ इस स्थिति का कोरा विवरण या चित्रण नही है, उसे यहाँ अनुभव के स्तर पर, अनुभव की यातना के रूप मे उजागर करने का प्रयास किया गया है, जहाँ देह की प्रासंगिकता और सार्थकता नही रह जाती 'मुझे लग रहा था—मेरे शरीर की सब हड्डियां घुल गयी है। सिर्फ देह है। मैं इस देह का क्या करूंगा'······ 'हम दोनो की देह एक दूसरे के लिए अनुपयोगी हो गयी थी। उस की देह तो फिर भी थी, लेकिन मैं अपनी देह खो चुका था।'

दोनो के इस ढंग के यौन व्यवहार के लिए जिम्मेदार कोई न कोई मानसिक वृत्ति है जिसे स्पष्ट रूप मे सुझाने या खोलने की अपेक्षा लेखक उस पर रहस्य का आवरण डाल देता है 'मैं और कन्या एक ऐसी मानसिकता से गुजर रहे थे जहाँ हम दोनो को एक दूसरे की निकटता का अहसास तो था पर एक 'लेकिन' हम लोगो को टोक देता था'। इस 'लेकिन' का कोई मानसिक या अन्य सन्दर्भ उपन्यास मे नही है। हाँ, एक महत्त्वपूर्ण सूत्र अवश्य है। 'मैं' की पुंसत्वहीनता का अहसास और इससे जुडी यातना केवल कन्या की सापेक्षता मे है। नीति के साथ यौन-व्यवहार में उसे कोई दिक्कत नही 'मेरे सामने मात्र नीति थी। स्तम्भ की तरह। फिसलते-फिसलते मैं उसको पकड़ लेता था। मैं जानता था उसके साथ मेरी वास्तविकता भिन्न है। कन्या की वास्तविकता को मैं नीति की वास्तविकता से स्थानान्तरित नही कर सकता था।' 'मैं' की अस्थायी पुंसत्वहीनता का यह एक महत्त्व-पूर्ण सूत्र है जिसे पकडकर उपन्यास की केन्द्रीय संवेदना तक पहुंचा जा सकता है।

इस उपन्यास मे, निश्चय ही, एक नए और चुनौतिपूर्ण अनुभव-क्षेत्र को उठाया गया है। यह लेखक की सफलता है कि उसने इस स्थिति को स्थूल और बड़बोला नहीं बनने दिया है।

दूसरी किस्म के उपन्यास वे हैं जिनमें ग्र ज की मानवीय स्थिति का सीधे-सीधे साक्षात्कार किया गया है। मुक्तिबोध का विपात्र और बदीउज़्ज़मा का एक चूहे की मौत ऐसे ही उपन्यास हैं। विपात्र में व्यवस्था-तन्त्र में जकड़े हुए व्यक्तियों की, विशेष रूप से, बुद्धिजीवियों की दोहरी मानसिक स्थिति या दोग़लेपन तथा दुर्दशाग्रस्त स्थिति का बोध कराने का प्रयास किया गया है। विपात्र में व्यवस्था का प्रतीक है बॉस और उसका दरबार। बॉस इसलिए उपकार करता है कि लोग उसकी कठपुतली बनें और शैतानी ढाँचे में फिट हो सकें। व्यवस्था का अंग बने रहने की लाचारी इस उपन्यास में भी वैसी ही है जैसी एक चूहे की मौत में। आदमी तैयार रहते हैं कि आओ हमें खरीदो। आत्मा की स्वतन्त्रता बेचने वालों की संख्या असीम है। उतनी ही बड़ी संख्या है आत्मा को रेहन रखने वालों की। बुद्धिजीवियों की स्थिति इस कदर निरीह है कि वे व्यवस्था से चिपके रहने के लिए बाध्य हैं। अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से पूँछ हिलाते हैं। वे व्यवस्था को न चुनौती दे पाते हैं, न उसके प्रति विरोध व्यक्त कर पाते हैं। उनमें रह जाता है केवल नपुंसक क्रोध जिसका अनुभव हर उस आदमी को होता है जिसने अपने जीवन की रक्षा के लिए अपनी स्वतन्त्रता बेच खायी हो। उनकी आत्मा ऐसी जननेन्द्रिय के समान है जिसकी निजारत होती है और बुद्धिजीवियों की कोई भूमिका नहीं रह गयी 'एबीलार्ड! शिखण्डी सन्त! जिसने अपनी जननेन्द्रिय को चाकू से काट दिया था। सन्त बने रहने के लिए'।

लेखक ने बुद्धिजीवी के नैतिक संकट की इस स्थिति को सामाजिक सन्दर्भ में उठाया है। व्यवस्था-तन्त्र के तिलस्म को ताड़ने के लिए उसने 'सृजन शक्ति का और तेज रगत और 'सामाजिक भेदों की दलदल को सुखाने' का संकल्प व्यक्त किया है। *स्थिति के प्रति लेखक की इस दृष्टि के पीछे यह* विचार है कि 'मुक्ति अकेले में अकेले की नहीं हो सकती। मुक्ति अकेले में, अकेले को नहीं मिलती।' लेखक के इस संकल्प और विचार से कोई एतराज़ नहीं। पर, यह संकल्प और विचार औपन्यासिक सर्जनात्मकता का हिस्सा नहीं बन सका है तथा जीवन-व्यवहारों में चरितार्थ नहीं हो सका है। मानव-अस्तित्व को अर्थ देने की स्पृहणीय वांछा, इस चरितार्थता के अभाव में कोई प्रभाव नहीं छोड़ती। उपन्यास की सर्जनात्मकता, विचारों, धारणाओं, कथनों और विश्लेषणों के बोझ तले, जगह-जगह खण्डित हो गयी है।

बदीउज़्ज़मा के उपन्यास एक चूहे की मौत में भी व्यवस्था-तन्त्र की भयावहता और उससे जुड़ी मनुष्य की क्रूर नियति का प्रश्न उठाया गया है और उसे गहरे संवेदनात्मक स्तरों पर उजागर किया गया है। इसमें सम्पूर्ण व्यवस्था-तन्त्र *एक मायावी दैत्य की तरह व्यवहार करता है* और सभी को अपने जबड़ों में दबोचे हुए है। तन्त्र में जुड़े हुए, उसमें शामिल और उससे विद्रोह करने वाले आदमी की जटिल और विसंगतिपूर्ण स्थिति के सैकड़ों पहलू पहली बार, औपन्यासिक

फलक पर जीवन-व्यापारा की सगति में उभरे हैं और फन्तेसी शिल्प के सजनात्मक प्रयोग न इस उपन्यास को व्यापक सदर्भों और अभिप्राया से सयुक्त कर दिया है।

इस उपन्यास म प्रतीकान्वेषण की प्रक्रिया इसकी रचनात्मकता में गुथी हुई है और आज के परिवेश की विसगति और तल्खी को उभारने वाली है। उपन्यास में 'चूह चूहेमार' के प्रतीको को घुटनभरे दफ्तरी वातावरण के परिप्रक्ष्य में रखत हुए भी व्यापक अथ सदर्भों में सक्रान्त किया गया है। चूहे मारना केवल फाइला का निपटारा नही है। यह एक व्यवस्थाकामी मनोवत्ति है चूहेमार सिफ वही नही होता जो सिफ चूहेखाने म चूहे मारता है। प तस्वीर नही बनाता चूह मारता है। यह एक व्यावसायिक मनोवत्ति है जिसे इस उपन्यास म निममतापूवक बनकाव किया गया है।

एक चूहे की मौत म आज के आदमी की निरीह स्थिति का दफ्तरी माहौल और घुटन की दहशत के सदर्भों म शासन तन्त्र और व्यवस्था-तन्त्र के व्यापक धरातल पर प्रस्तुत करा वाला उपक्रम है व्यवस्था-तन्त्र एक लम्बी सुरग है जा दिन भर अनगिनत चह (फाइल) सामन उगलती रहती है और उपन्यास का वह—छोटा चूहमार—चहे मारने की नियति का भोगता है क्योकि चूहेखाने स निकलकर कोई भी चैन स नही रह सकता और चह मारो या भखा मरा क सिवा अय कोई विकल्प उसके सामन न ा है। व्यवस्था इतनी पचादा है कि वह इस चूहा म जितना अधिक रुचि लता है उतना ही वह उनके शिकज म फसन लगता है। इस तन्त्र का खौफ और तासत इतना है कि चहा की लाख अवहेलना की जाए चाहे जितना उपहास किया जाए वह आपका साथ नहा छाडग। चूहखाने की शक्तिया दानवा और राक्षसा सा है जा आदमी क सत्व को निचोड डालती है। मनुष्य की आत्मा मक्ति क लिए छटपटाती है पर दैत्याकार तन्त्र के सामन मनुष्य स चूह क रूप म उसका देहान्तरण हा जाता है। वह चूहा बनकर घिसटता और रिरियाता है। वह सोचता विचारता मनुष्य के समान है। वास्तव में वह न चूहा है न आदमी। उसकी स्थिति काकभुशण्डी जसी है। लखक न पुराण तथा पचतन्त्र की कहानिया के प्रसगा का कथा रचना में गूँथकर तन्त्र की क्रूरता और भयावहता के सदभ म मनुष्य की इस अमानवीय होती जा रही मानव स्थिति के यथाथ का बोध कराया है।

इन उपन्यासा में जटिल तथा बद्धमूल मानसिकता और भयावह मानव स्थिति के विविध स्तर उद्घाटित हुए हैं यह अलग और है कि सभी उपन्यासो में य स्तर एक से सजनात्मक न हों या कि इनक रास्त में कलागत या नैतिक अवधारणाएँ आड आ गई हा।

नयी औपन्यासिक सर्जनात्मकता और अस्तित्व के चालू मुहावरे

विगत कुछ वर्षों मे ऐसी औपन्यासिक कृतियाँ प्रकाश मे आई हैं जो उपन्यास के परम्परागत ढाँचे को तोड़ने का उपक्रम करती हैं। यह 'तोडना' कही रचनागत दबावो के कारण है तो कही महज एक शैली और अन्दाज का सूचक है। उपन्यासकार का ध्यान जहाँ केवल शिल्पगत प्रयोगो तक रहता है वहाँ वह उपन्यास मे कोई बुनियादी परिवर्त्तन नही ला पाता। पर, यदि प्रयोग रचना के परिणामस्वरूप हुए हैं तो वे औपन्यासिक विधान मे रद्दोबदल के सकेत देते हैं। आज उपन्यास बदल रहा है और उसके आग्रह 'शिफ्ट' कर रहे हैं। अब उपन्यास नायक की धारणा को छोड चुका है और केन्द्रीय चरित्र और सिलसिलेवार कथा का मोह भी त्याग चुका है। आज उपन्यास मे बाहरी परिवश भीतरी सन्दर्भ ले रहा है यानी भीतर घटित और रूपान्तरित हो रहा है। इसी म कथा बेतरतीब से टुकडो म रहती है या एक मुख्य मनःस्थिति म जुडे हुए अनेक प्रसग रहते हैं। जाहिर है कि कथा के रचाव की यह दृष्टि चरित्र की 'मिथ' को तोड रही है। इसमे उपन्यास नए रूप मे परिकल्पित हो रहा है। सवाल यह है कि यह परिकल्पना उपन्यास की रचनाशीलता से तालमेल बनाए हुए है या नही? उपन्यास, चूँकि, एक कृति है, हमारा सरोकार इतना ही है कि यह सब उपन्यास मे रचनात्मक धरातल और मुहावरा पा सका है या नही?

मेरे सामने दो लघु उपन्यास हैं—रमेश बक्षी का चलता हुआ लावा और प्रमोद सिनहा का उसका शहर। इन दोनो उपन्यासो मे कथागत उलझाव नही है। इनमे

कथा की बुनाई आड़े-तिरछे सूत्रों से नहीं की गयी है। इनमे मूल सवेदना का भी इकहरापन है। चलता हुआ लावा मे नयी कथा-टेक्नीक के बल पर और उसका शहर मे कथा को असम्बद्ध टुकडो म प्रस्तुत करके उपन्यास की परम्परागत धारणा को खडित करने का प्रयास किया गया है। पर, रमेश बक्षी का कथा-शिल्प-प्रयोग कथा को भिन्न ढग से कहने की लेखक को सुविधा भर दे पाया है, उसम उपन्यास की रचाव-दृष्टि मे कहीं कोई फर्क नहीं पडा। सारे प्रसग और स्थितियाँ एक मन-स्थिति के गिर्द एक चरित्र को उभारत हैं और कहानी-गठन म सहायक बनत हैं जबकि ये प्रसग और स्थितियाँ भिन्न प्रकार के रचनात्मक सयोजन की अपेक्षा रखती थी। दूसरी ओर प्रमोद सिन्हा के उपन्यास म कोई एक कथा नहीं है, छोटे-छोटे अनेक कथा-अंश हैं— एक दूसरे से असम्बद्ध पर एक मन स्थिति स जुडे हुए, किन्तु यहाँ दिक्कत यह है कि धारणा रचना पर हावी हो गयी है।

चलता हुआ लावा मे महत्त्व है एक मनोदशा या मन स्थिति का जो पूरे उपन्यास की धुरी है। इस उपन्यास के 'मैं' की मन स्थिति आत्मघात क लिए पहले से बन चुकी है। उसके लिए मरना किसी कारण से नहीं होता, वह तो एक निश्चय के रूप म मन म पक्का हो जाता है। उसके लिए आत्मघात या मृत्यु एक बद्धमूल मानसिक ग्रथि है। उपन्यास के 'मैं' को दबोचे हुए है एक भयावह बिम्ब— अधा, अधेरा, सीलनभरा तलघर—और उससे राहत पाने के लिए वह छटपटाता है। उपन्यास के शुरू से आखिर तक इस भयावह बिम्ब का एहसास पाठक के मन मे बना रहता है। इस मन स्थिति के लिए क्या कहा जाए? क्या इसे मृत्यु का स्वीकार या वरण या मृत्यु-दश झेलन के बाद का मृत्यु-बोध माना जाए? मुझे लगता है कि इस उपन्यास म न तो मृत्यु का स्वीकार है और न ही उसका बोध। इसमे वह प्रक्रिया ही अनुपस्थित है जिसम से गुजर कर मृत्यु-बोध की प्रामाणिक सवेदना जगती है। टूटन वाली स्थितियो से गुजरते हुए भी उपन्यास के 'मैं' के मन मे मौत-वौत कुछ नहीं आनी यानी उसकी मन स्थिति-स्थिति सापेक्ष नहीं है, बद्धमूल मानसिक ग्रन्थि की उपज है। लगता है आत्मघात और मृत्यु की जो व्याख्याएँ और विवरण इस उपन्यास म आए है, वे धारणात्मक और 'एकेडेमिक' हैं और रचनात्मक रूप मे सम्प्रान्त नहीं हो पाए हैं।

दरअसल, यह उपन्यास जीवन और मृत्यु के बीच व्याप्त त्रास और उससे मुक्त होने की कहानी कहता है। इसमे मूल प्रश्न है आज के आदमी के अस्तित्व का—जीवन मे लौटने, उसे स्वीकारने और उससे सपृक्त होने का। इसके पीछे संकल्प-स्वातन्त्र्य और जिजीविषा का भाव है। सारे सबध-सूत्रो के टूट जाने के बाद भी उपन्यास का 'मैं' जीना चाहता है और इसलिए वह मौत से जूझता है और उसकी गिरफ्त से छूटने की कोशिश करता है। टेकनीकल अर्थ मे जिन्दा होते हुए भी उपन्यास का 'मैं' मृतवत् पडा है। उस का 'ब्रेन' फेल हो चुका है पर धडकने

चल रही है। नए मेडिकल सिद्धांत के अनुसार उसे मृत घोषित कर दिया गया है। उसे अर्थी पर डालकर श्मशान घाट ले जाया गया है। एक अतीत उसके साथ लिपटा है जिसकी उसे चेतना है। उसके सामने कई पिछले संदर्भ कौंध जाते हैं—पिता का, पत्नी का, प्रेमिका का, और उसे याद आती हैं आत्मघात की मन-स्थितियाँ। *वह मृत्यु के रूबरू है, मृत्यु का भयावह आतंक और त्रास झेलता है।* पर वह हताश और पराजित नहीं है। मृत्यु के विरुद्ध वह लगातार संघर्ष करता है। अर्थी की एक-एक रस्सी की जकड़न से अपने को मुक्त करता है और जीवन में लौटता है—किसी आरोपित मूल्यवत्ता से परे हट कर जीने के लिए। जिन्दगी को बिल्कुल नए सिरे से शुरू करते हुए वह स्वयं को अनिश्चित सा, 'वैकुअम' की-सी स्थिति में पाता है जहां वह कहीं भी जुड़ा हुआ महसूस नहीं करता। यह परिणति स्थिति-सापेक्ष नहीं है, क्योंकि इस तक पहुंचा गया है बद्धमूल मानसिक ग्रंथि के जरिए। यह ग्रंथि उपन्यास की मूल संवेदना को कोई संदर्भ नहीं पाने देती। पिता, पत्नी और प्रेमिका के प्रति एक खास किस्म की घृणा उड़ेलने वाली जो प्रतिक्रियाएँ उपन्यास में आई हैं (जो बख्शी के उपन्यासों की 'फिक्सेशन' बन चुकी हैं), उससे उपन्यास मानसिक कुलबुलाहट और भावुकता से आगे नहीं बढ़ पाता है।

प्रमोद सिनहा के उपन्यास उसका शहर में न कोई कथा है, न कोई चरित्र और न ही कोई नायक। इस उपन्यास में कथा और चरित्र की परम्परागत मान्यताओं से अलग हटकर कुछ प्रसंगों के सहारे मन स्थितियों को सामने लाया गया है। प्रसंगों में न कोई तारतम्य है न सम्बन्ध पर मन स्थितियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं—सम्बन्धों के *विघटन का एक महीन सूत्र उन्हें बाँधे हुए है। आज के आदमी के लिए सम्बन्धों की* शाश्वतता का कोई अर्थ नहीं रह गया है। सम्बन्ध उसके लिए प्राथमिक निष्ठा नहीं है। यह उसके लिए एक सुविधा है या अस्थायी भाव या भीतर से कहीं भी जुड़े न रहने के बावजूद परस्पर जुड़े रहने की लाचारी। प्रामूल और लूपिका के सम्बन्ध में केवल सुविधा है—प्रामूल को लूपिका से मानसिक रति मिलती है। मित्र और एनी के सम्बन्धों में परस्पर साथ बने रहते हुए भी बेगानेपन का भाव है—दोनों दो समानान्तर रेखाओं की तरह जीते हैं। लूपिका और दशानन अपनी भिन्न रुचियों के कारण एक-दूसरे से जुड़ नहीं पाते—दाम्पत्य-सम्बन्ध समर्पित व्यक्तित्व चाहता है और लूपिका अपनी निजता खोना नहीं चाहती।

निस्सन्देह, यह सम्बन्धों का केवल ऊपरी द्वन्द्व नहीं, यह सम्बन्धों में भोग रहे आधुनिक आदमी की अस्तित्व स्थिति है जिसमें बीतते जाने की संवेदना उसे सताती और कचोटती है। लूपिका सोचती है—यह बीतना अपने क्रम में कितना भयानक है, कहीं भी कुछ भी वापिस नहीं आता। बीतते जाने का एहसास उस आत्महत्या की तरह है जिसमें आदमी यह अच्छी तरह जानता है कि यदि उसने ऐसा कुछ भी किया तो उसका अस्तित्व खतरे में पड़ जायेगा और यह खतरा अन्य खतरों

की तरह टाला नही जा सकता बल्कि इससे उसके अस्तित्व के ही टल जाने की गुंजाइश रहेगी ।' यथास्थिति का यह कथन सही है, पर यह कथन उपन्यास की सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया मे व्याप्त नही है । इसी तरह लेखक ने भीतर के खालीपन का कई जगह कथन किया है, पर वह उसकी भयावहता का कोई बिम्ब नही उभार पाया है । सभी एक दूसरे से ऊबे हुए हैं और पाते हैं कि सभी कुछ निरर्थक है। पर, ऊब और निरर्थकता की कोई रचनात्मक अनुभूति उपन्यास नही दे पाता । इसका कारण है लेखक का अस्तित्व और नियति की चालू धारणाओ मे उलझ जाना । उपन्यास के शुरू मे ही आमूल की मन:स्थिति अस्तित्ववादी ढग से गढी गई है—'बेकार ही बिना सदर्भ के उसे सृजित कर दिया गया, जिसमे वह निरीह है और अपने को असहाय महसूस करता है ।' और लूसिका सोचती है, 'हर चीज़ का एक निश्चित भुगतान तय है ।' यह अस्तित्ववादी धारणा का ही तर्जुमा है । अस्तित्व दर्शन यहाँ कलात्मक रचाव के रूप मे प्रतिफलित नही हो पाया है ।

इस उपन्यास की मुद्रा कुछेक स्थितियो को उठाने भर की है । ये स्थितियाँ किसी बडी मानवीय स्थिति से रिश्ता नही जोड सकी । ये स्थितियाँ अस्तित्व और नियति से धारणात्मक सतह पर ही अपना सरोकार जता सकी हैं, किसी बडी मानवीय स्थिति से इनका रिश्ता नही जुड पाया । लेखक ने विसगतियो-भरे, जटिल और 'एब्सर्ड' अनुभव को सप्रेषित करना चाहा है—पर इस अनुभव के समानान्तर भाषा का सर्जनात्मक प्रयोग वह नही कर पाया है ।

यथार्थ के बिम्ब और औपन्यासिक रचनाशीलता के तकाज़े

आखिर वह कौन सा बिन्दु है जिस पर कोई कृति हमें छू जाती है और क्या छू जाने वाला और अभिभूत कर जाने वाला बिन्दु वह कोण बन सकता है जिस से हम कृति को देख परख कर पूरा का पूरा पा सकें ? लगता है कि मार्मिक प्रभाव बिन्दु पर निर्भर कोण या प्रभावाग्रही दृष्टि से किया हुआ मूल्यांकन रचना की कलात्मक सफलता या असफलता की पहचान नहीं करा सकता। ऐसा मूल्यांकन-कोण वस्तुपरक न होने से रचना के भीतरी अभिप्रायों और अर्थ-संकेतों को समझने और पकड़ पाने की सामर्थ्य को कमज़ोर बनाता है। औपन्यासिक कृति में यह खतरा सबसे अधिक रहता है क्योंकि उपन्यास का 'संसार' अपनी प्रकृति में संकुल और जटिल होता है और उसकी कई एक तहें होती हैं। इस वजह से उसके भीतरी आशय या मूल संवेदना तक पहुँच पाना खासा कठिन है। यह कठिनाई तब और भी बढ़ जाती है अगर उपन्यास किसी अंचल-विशेष के समसामयिक जीवन के यथार्थ को आकलित करने वाला हो। रामदरश मिश्र के उपन्यास जल टूटता हुआ में यह कठिनाई सबसे पहले सामने आती है। आंचलिक स्वभाव और अभिरुचि वाले इस उपन्यास पर कहाँ से और किस कोण से बात शुरू की जाय ? आंचलिकता इस उपन्यास के विवेचन का एक सुविधाजनक आधार बन सकती है, पर इस सुविधापरक रास्ते को अपनाने से उस यथार्थ की शायद खरोंच-भर ही मिल सके जो इसमें अभिव्यक्त है। इस उपन्यास का 'गाव' विकट और सर्वग्रासी यथार्थ की लपेट में है और मानव-स्थितियों की विभीषिकाओं का आभास देने वाला है।

इस उपन्यास के सन्दर्भ मे यथार्थ की औपन्यासिक बुनावट से बात शुरू करना ज्यादा सही होगा। उपन्यास के पहले अध्याय को ही लें। इसमे लेखक ने मास्टर सुगन के जरिये स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के स्वप्नो और स्वप्न-भग की स्थितियो की ओर सकेत किया है। मास्टर के लिए स्वतत्रता-प्राप्ति रगीन भोर के समान डहडहा उठने वाली कल्पना थी। उसे लगा था एक बडी चट्टान जैसे सर से उठ गयी। आकाश मे अधकार उगलते हुए बडे-बडे बादलो के पहाड जैसे पिघल कर बह गये। आज भी मास्टर का वह सपना हारा भले न हो, पर अब अभावो से जर्जरित उसका मन सपनो का तार जोड नही पाता। कीचड की आशका ने सारे तारो को छिन्न भिन्न करके बिखेर दिया था। लेखक ने बडे कलात्मक सयम से मास्टर सुगन की मानसिकता को उभारा है और आर्थिक अभावो के शिकजे मे जकडे हुए व्यक्ति की मूल्यगत पकड के ढीला होने को सूचित किया है। और फिर मास्टर 'गीनवा' के विवाह की सोचता है और सपने म खो जाता है। तभी 'हवा बह गयी, जोर से धान के बिरवे कुनमुना उठे, जैसे कोमल स्पर्श मे किसी बछडे के रोयें। मास्टर सपने मे डूब थ। एक चील बडे जोर से टें करके ऊपर से उड गयी। उसके पजे मे एक मछली छटपटा रही थी। यह कोरा चमत्कार कथन नही है बल्कि एक ऐसा बिम्ब है जो गहरी अर्थ-व्यजना लिए हुए है और उपन्यास के मूल आशय का गहरा रहा है। लगता है उसके भयाक्रान्त मन का यह बिम्ब (चील के पजे म छटपटाती मछली) भीतर से उछल कर बाहर प्रक्षेपित हो गया हो। तभी एकाएक उसके ध्यान मे महीपसिह आकर अटक जाते हैं और उसे लगता है जैसे बाबू महीपसिह की भारी-भरकम देह यहाँ से वहाँ तक पसर गयी है। और वह अपने भारी भरकम बोझ के नीचे जमीन को सारी ऊब को दबोचे हुए है। ये सभी बिम्ब व्यक्ति के भीतर की मशाल-सक्रमित प्रक्रिया को ही उद्घाटित नही करते बल्कि उपन्यास के आन्तरिक अभिप्राय से अन्तर्वर्ती सूत्र के समान जुडे हुए हैं। स्वातन्त्र्य-स्वप्न के टूटने का एहसास, डरे हुए आदमी की मनःस्थिति, चील का टें करके उडना और उसके पजे मे मछली का छटपटाना और फिर महीपसिह का क्रूर शोषक रूप—बिम्बो का यह क्रम आन्तरिक, कलात्मक और सकेतात्मक है। ये बिम्ब केवल कुछेक स्थितियो के बिम्ब न होकर उपन्यास मे एक वृहत्तर अर्थ-सन्दर्भ की अनुगूज छोड जाते हैं और औपन्यासिक कलेवर मे सार्थक और चरितार्थ होते हैं।

इस उपन्यास मे परिस्थितियों का घटाटोप है। एक के बाद दूसरी और एक-दूसरी को काटती-पीटती, बनाती-ढहाती परिस्थितियाँ हैं। कभी बाढ का प्रकोप, कभी सर्प-दश, कभी महामारी और कभी चकबन्दी की मुसीबत। भूख तो गाव मे सर्वत्र व्याप्त है। बरमी का यह सोचना कितना साभिप्राय है—'यह पहरा किसे जगा रहा है। सभी घरो मे भूख लौट रही है। भूख की चोरी करने कौन आएगा।' और तिस पर गुडागर्दी—एक-दूसरे की जमीन हडपने और साफ करने के षड्यन्त्र।

मतलब यह कि गांव की जिन्दगी यातना का न खत्म होने वाला सिलसिला बन जाती है। इस सिलसिले के अपरिहार्य अंग बने हैं इस उपन्यास के प्रेम-प्रसंग। कुजू-बदमी और मास्टर-शारदा के प्रेम प्रसंगों ने उपन्यास में बहुत जगह घेरी है। पर, ये प्रसंग उपन्यास में अनावश्यक रूप से विन्यस्त नहीं है। इन से गांव की जिन्दगी का एक और पक्ष सामने आता है—यातना का एक भावनात्मक छोर। ये प्रेम-प्रसंग गांव में औरत की जिंदगी की घुटन, विवशता और वेदना को झलका देते हैं, बावजूद रोमांटिक और भावुक अदाओं के।

परिस्थितियों और प्रसंगों का ताना-बाना इस उपन्यास में ऐसा है कि उस में बनते बिगड़ते सम्बन्धों का और मन:स्थितियों के तनाव, विरोध, विसंगति और विडम्बना का बोध हो जाता है। लेखक ने परिस्थितियों या घटनाओं का नियोजन इस ढंग से किया है कि प्रसंग और पात्रों के क्रिया-कलाप बिलकुल नये रूप में दीप्त *हो उठते हैं। पंचायत के चुनाव और चकबन्दी आदि ऐसी घटनायें हैं जो सबकी के* तमाम सूत्रों को उलझा देती हैं। एक दूसरे की पोल खोलने के प्रयास में हर किसी की पोल खुल जाती है। भूपेन्द्र लाल के एम० सी० ओ० बन कर आने से कई चेहरे बनकाव होते हैं और कइयों की विकृतियां सामने आती हैं। अनजान राय के आने से सम्बन्धों के नए सन्दर्भ बनते हैं और उस उखाड़न की साजिशें भी चलती हैं। इस प्रकार की घटनाओं और प्रसंगों का अम्बार इस उपन्यास में लगा हुआ है। आधुनिक उपन्यासों की तरह उसमें ऐसा बिखराव नहीं है कि घटनाओं में कोई संबंध-सूत्रता ही न हो या घटनाएँ एक दूसरे से स्वतंत्र और निरपेक्ष हों। यहां घटनाएँ एक-दूसरे से जुड़ी बंधी हैं और यथार्थ की तल्खी को सामने लाती हैं।

यह समूचे गांव का यथार्थ है। वर्ग चेतना के बावजूद, यह यथार्थ सुनिश्चित और व्यवस्थित वर्ग धारणाओं से प्रेरित नहीं है। पर एक बात अवश्य खटकती है *कि इस उपन्यास में वर्णन की पुरानी यथार्थवादी पद्धति को अपनाया गया है।* उदाहरण के तौर पर इस प्रसंग को देखिए

'बीस भर चांदी की हँसुली के लिए चौधरी ने सिर्फ पांच रुपये दिये हैं, कैसा बेईमान है यह।'

और सतीश मानो दिवा-स्वप्न में खो गया—चौधरी की बीभत्स आकृति उस की आंखों के सामने खड़ी हो गई। सतीश ने बढ़कर उसके पेट पर लात मारी और हुंकार उठा 'कमीने, तू अभी भी जिन्दा है, आज़ादी मिलने के बाद भी।' चौधरी पेट पर हाथ फेरता हुआ हँसा—'मारो और मारो। यह पेट तो तुम्हारा ही है, तुम्हारे गहनों से भरा हुआ है, यह चोट मुझे नहीं तुम्हारे गहनों को लग रही है। आज़ादी से क्या होता-जाता है। मैं अपनी जगह पर बदस्तूर कायम हूँ और मुझे ही क्यों देखते हो, तुम्हारे नेताओं में भी तरह-तरह के चौधरी निकल आए हैं।'

वैपम्यपूर्ण स्थितियो के चित्रण और वर्णन का यह मुहावरा, निस्सदेह, यथार्थवादी ढंग का है। भाषा का रचाव और शैली भी कुछ इस ढग की है कि यह मुहावरा ज़रूरत से ज्यादा मुखर प्रतीत होता है। वर्णन की यथार्थवादी रूढि को काटने के लिए व्यग्य और कटाक्ष काफी सहायक हो सकते हैं। पर, इन औज़ारो का कोई पैना प्रयोग इस कृति मे नही हो सका है।

इस उपन्यास मे लेखकीय दृष्टि भयावह और क्रूर स्थितियो के यथार्थ को एक मूल्य-सन्दर्भ देते की रही है। इस के लिए सतीश को माध्यम बनाया गया है। वह गाव की सीमाओ से लडता है और आदर्श गाव का स्वप्न देखता है। घिनौनी यथास्थिति को तोडने का उसमे अपूर्व और सात्विक उत्साह और साहस है। कजू के यह कहने पर, 'लगता है गरीबो का कोई नही है,—कल भी नही था, आज भी नही है। ये गन्दे जानवर कल भी राज करते थे, आज भी राज करने के लिए हाथ-पाव मार रहे हैं, इनके मुह खून लगा है न आदमी का', प्रत्युत्तर मे सतीश ओज और उत्साह की वाणी बोलता है 'हा, लेकिन अब इन्हे बरदाश्त नही किया जायगा। इन का राज बदलना ही होगा। इसीलिए तो पचायत-राज की व्यवस्था हो रही है। किसी भी कीमत पर इन्हे रोकना होगा मैदान मे आने से। य खलबलाए हुए हैं। जब शकर का ताडव-नृत्य होता है तब राक्षस खलबला उठते है। आज शकर का ताडव-नृत्य हो रहा है, सत्य उघड कर सामने आ रहा है, ये राक्षस खलबलाए हुए हैं, इन्हे रोकना होगा······रोकना होगा ·····।'

क्या इस प्रकार की आवेशपूर्ण वाणी उपन्यास को किसी मूल्य स्तर से जोड पाती है? उपन्यास मे जो बदले हुए जीवन-सन्दर्भ और अस्तित्व मे जूझने वाली स्थितियाँ है, उन्ह देखते हुए सतीश का इस प्रकार का सोचने का रुख एक भावुक प्रतिक्रिया मे अधिक अहमियत नही रखता। बद्धमूल भावुक धारणाओ के आधार पर स्थितियो को मूल्य-स्तर पर सक्रान्त नही किया जा सकता। दरअसल, गाधी का गाव का सपना सतीश के अवचेतन म अटा पडा है। यह उसकी मनोवैज्ञानिक 'फिक्सेशन' या 'आर्क टाइप' बन चुका है। बदली हुई स्थितियाँ उसके सामने हैं और वह उनके बीच से गुजरता भी है। उसे साफ महसूस होना भी है कि 'सत्य तो बुरी तरह से मर रहा है, और सामूहिकता-खड-खड मे बँट कर इकाइयो म छटपटा रही है', तो भी गाधी की गाव की परिकल्पना उस की बद्धमूल ग्रथि बनी हुई है, तभी तो वह जग्गू से कहता है—'मैं तो जो भोग रहा हू वह भोग ही रहा हू लेकिन चिना इस बात की है कि गाव का क्या होगा? क्या इसी गाव की कल्पना गाधीजी ने की थी?' ···आगे वह फिर कहता है, 'आजादी मिले इतने साल हो गये, लेकिन गाधी का सपना कहा पूरा हुआ?' इन धारणाओ की पूरे उपन्यास के 'टेम्पर' से कोई सगति बैठती प्रतीत नही होती। उपन्यास के अन्त मे सतीश के भाई चन्द्रकान्त का आई० ए० एस० बन कर आने का प्रसग नितान्त अप्रासगिक लगता है। उपन्यास

अपने पूरे रचाव, आन्तरिक तर्क-संगति और रचनाशीलता के आधार पर एक ट्रेजेडी बन रहा था, पर लेखक ने उस पर, एक प्रभामंडल और सुखद अन्त उढ़ा दिया जिस से लेखकीय दृष्टि और रचना-दृष्टि के बीच द्वंद्व की स्थिति पैदा हो गयी।

लेखकीय दृष्टि और रचनाशीलता के इस द्वंद्व के बावजूद, यह उपन्यास गाँव के समसामयिक जीवन की यथार्थ, क्रूर स्थितियों और यातनाओं की सच्ची और प्रामाणिक तस्वीर पेश करता है। यह स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद के गाँव-जीवन का अनुभूत यथार्थ बिम्ब है जो औपन्यासिक रचनाशीलता के तकाजा से जूझता हुआ अपनी सीमा और विशिष्टता के स्तरों को खोलता चलता है।

●

मुक्तिबोध की
समीक्षा-दृष्टि

मुक्तिबोध की समीक्षा-दृष्टि

मुक्तिबोध का व्यक्तित्व, साहित्य और साहित्य-समीक्षा एक दूसरे से गहरे में अन्तःसम्बन्धित और सम्पृक्त हैं। इससे यह भ्रम हो सकता है कि उनके कृति-व्यक्तित्व ने साहित्य-समीक्षा में और उनके समीक्षक व्यक्तित्व ने साहित्य-क्षेत्र में अवैध प्रवेश किया हो या अवांछनीय दखल दिया हो। पर, ऐसा भ्रम निर्मूल ही है क्योंकि ऐसा कहने के लिए कोई समुचित आधार नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी समीक्षाएँ, मूल रूप में, एक कवि की, रचनाकार की समीक्षाएँ हैं जिसने अपने व्यक्तित्व में बाह्य यथार्थ की अभ्यन्तरीकरण-प्रक्रिया को घटित होते देखा है और सृजन-प्रक्रिया की राह पर चलते हुए हर मोड़ को देखा, समझा और परखा है। अपने काव्य-जीवन की यात्रा में उन्हें जो चिन्तन करना पड़ा है, उसी से उनकी समीक्षाएँ अनुप्रेरित हैं। यही कारण है कि यहाँ साहित्य-सम्बन्धी सिद्धान्तों और प्रश्नों का जड़ीभूत शास्त्रीय विवेचन-विश्लेषण नहीं है। उनका समीक्षक-व्यक्तित्व, रचनाकार-व्यक्तित्व से अलगाया नहीं जा सकता। ये दोनों, उनके व्यक्तित्व में, सृजनात्मक स्तर पर, एक-दूसरे से सहज रूप से जुड़े हुए हैं। ये एक-दूसरे को प्रभावित ही नहीं, अन्तःस्पन्दित और रूपान्तरित भी करते हैं। पर, इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि उनकी समीक्षा-दृष्टि कवि-कर्म की उपज है। उनकी समीक्षाओं के (और कविताओं के भी) पीछे स्रष्टा के साथ-साथ एक प्रौढ़ और प्रबुद्ध चिन्तक भी बैठा है जो जीवनानुभूतियों की प्रखर और निर्मम व्याख्या और मीमांसा करता चलता है। उनकी समीक्षाएँ, निश्चय ही, एक पुष्ट, वैचारिक

आधार लिए हुए है। 'संवेदना' और 'ज्ञान', 'कविता' और 'जीवन-समीक्षा' या जीवन-मूल्यांकन, उनके तई अलग अलग 'खानें' नही हैं। समीक्षा मे (और कविता मे भी) संवेदनात्मक ज्ञान और ज्ञानात्मक संवेदना पर उनके ज़ोर देने का यही मुख्य कारण है।

मुक्ता मुक्तिबोध ने मार्क्स दर्शन का गहन अध्ययन और मनन किया था। इस दर्शन ने उनकी जीवन-जगत सम्बन्धी धारणाओं को निर्धारित और सुनिश्चित किया था। उनके कवि-मानस पर इसका गहरा प्रभाव पड़ा था। पर, जीवनानुभवो की विविधता और व्यापकता जैसे जैसे उनके सामने प्रत्यक्ष होती गई, मार्क्स-दर्शन से पैदा हुई वैचारिक जकड़न ढीली होती गई। उनकी दृष्टि इस दर्शन की एकांगिता और सीमा को पहचान पाने मे उत्तरोत्तर समर्थ हुई। इस 'पहचान' के बाद वे इस दर्शन के प्रभाव-बिम्ब से बाहर जाने की बराबर कोशिश करते रहे। इस कोशिश मे वे कुछ हद तक सफल हुए भी, पर मार्क्सवाद के सिद्धान्तो और विचारो ने उनके दिल-दिमाग में जो 'कन्डीशनिंग' पैदा कर दी थी, उसकी जड़ें बहुत गहरी थी और जूझने के बावजूद, वे उससे उबर न पाए थे। उन्होने सही मायने मे खुद से लड़ाई की थी, आत्मसघर्ष किया था। इस 'लड़ाई' या 'संघर्ष' को एक साथ दो स्तरो पर देखा जा सकता है · रचना-स्तर पर और विचार-स्तर पर। इस आत्म-संघर्ष ने ही उन्हें अपने समूचे व्यक्तित्व (कृति और निजी) को शोधने की दिशा मे प्रवृत्त किया। इस शोधन-प्रक्रिया के परिणामस्वरूप, उनकी मार्क्सीय-सामाजिक दृष्टि का सस्कार हो सका और वह अपेक्षया अधिक व्यापक, सहज और साहित्यिक सन्दर्भ मे सार्थक हो सकी। अतः साहित्य-समीक्षा के मूलाधार के रूप म सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं पर उनका बल देना कोरा 'एकेडेमिक' नही है, सिर्फ 'मार्क्सीय' नही है। उनकी समीक्षाओ मे उनका सम्पूर्ण, द्वन्द्वपूर्ण व्यक्तित्व 'इन्वाल्वड' है। उन्होंने साहित्य की विशिष्ट प्रकृति और उसकी सृजनशील प्रक्रियाओं के परिप्रेक्ष्य म सामाजिक और आर्थिक भूमिकाओं का निरूपण करने का प्रयत्न किया है। यह प्रयत्न कितना प्रामाणिक और वस्तुपरक है, यह एक अलग प्रश्न है।

मुक्तिबोध ने सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनो प्रकार की समीक्षाएँ लिखी हैं। उनके आलोचनात्मक निबन्धो के सग्रह 'आत्मसघर्ष तथा अन्य निबन्ध' मे १३ निबन्ध है जिनमे से अधिकाश सैद्धान्तिक विषयो पर हैं जैसे··· 'काव्य की रचना प्रक्रिया'; 'सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक दृष्टि', 'नवीन समीक्षा का आधार', 'साहित्य और जिज्ञासा', 'अन्तरात्मा और पक्षधरता', और 'समीक्षा की समस्याएँ' आदि। इस सग्रह मे कई निबन्ध ऐसे है जिनमे नयी काव्य प्रवृत्तियों के सदर्भ मे कतिपय महत्त्वपूर्ण मौलिक प्रश्न उठाए गए है और उनका सैद्धान्तिक विवेचन-विश्लेषण किया गया है। कुछेक निबन्ध इसमे ऐसे भी है जिनसे उन की व्यावहारिक समीक्षा-दृष्टि का

पता चलता है, जैसे "'शमशेर मेरी दृष्टि में' और 'सुमित्रानन्दन पन्त' एक विश्लेषण।' उनकी व्यावहारिक समीक्षा का मेरुदण्ड तो उन का ग्रन्थ, **कामायनी : एक पुनर्विचार**, ही है जिसमें फ़ैंटेसी की दृष्टि से 'कामायनी' पर विचार किया गया है। साहित्य-सम्बन्धी ऐसे ही बुनियादी प्रश्न उठाए गए हैं डायरी विधा के अनौपचारिक सहज माध्यम से उनकी पुस्तक, **एक साहित्यिक की डायरी** मे। इन तीनों पुस्तकों के सम्बन्ध मे यह बात उल्लेख योग्य है कि इन तीनों मे मान्यताओं, स्थापनाओं और मूल विचारों के धरातल पर कोई विरोध, विरोधाभास या असगति नही है। इनमे एक मूलभूत केन्द्रीय-दृष्टि लक्षित की जा सकती है जिसके 'फोकस' मे वे हर साहित्य-विषय को देखते हैं। इससे विवेचन विश्लेषण मे जडता या एक-जैसा-पन आ जाने का खतरा रहता है, पर समीक्ष्य विषयों को विभिन्न कोणों से और विविध आयामों मे प्रस्तुत करने मे मुक्तिबोध को कोई कठिनाई नही हुई है।

मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि का यह केन्द्र क्या है ? निश्चय ही यह केन्द्र—वास्तविक जीवन-जगत् और उसके तथ्यों और अनुभवों से बना है। जीवन-जगत् के विविध और व्यापक जीवनानुभवों को वे समीक्षा के आधार रूप मे स्वीकार करते हैं। उनका मत है 'साहित्य समीक्षा के मूल बीज वास्तविक जीवन म तजुर्बे के बतौर उपलब्ध होने वाले ज्ञान और सवेदन और सवेदन ज्ञान मे ही है।' (आत्म सघर्ष तथा अन्य निबन्ध—पृष्ठ ९८)। वे तो यहाँ तक कहते हैं कि वास्तविक जीवन की सवेदनात्मक समीक्षा शक्ति के अभाव मे, साहित्य के क्षेत्र को समीक्षा-शक्ति थोथी होती है (वही, पृष्ठ ९९)। वास्तविक जीवन के सवेदनात्मक ज्ञान को वे साहित्य-समीक्षा की मूल दृष्टि या मूल्य के रूप मे इसलिए भी स्वीकार करते है कि वास्तविक जीवन का सवेदनात्मक ज्ञान, न केवल लेखक और समीक्षक म होता है, वरन् पाठक मे भी होता है (वही)। वे जीवन-सत्य को ही सिद्धान्तों का नियामक मानते हैं। वास्तविक जीवन म पाए जाने वाले तत्वों का वे साहित्य मे प्रकट तत्व की सत्यता की जाच की कसौटी मानते हैं। सक्षेप मे कहे तो वे जीवन-मूल्य और कलात्मक साहित्यिक मूल्य मे आवयविक सम्बन्ध मानते है। जाहिर है कि उनकी समीक्षा-दृष्टि वास्तविकता और वास्तविक जीवन के व्यापक और विविध जीवनानुभवों, जीवन-मूल्यों, आन्दोलनों, आकाक्षाओं और आदर्शों की वृहत्तर पीठिका पर खडी है। इस समीक्षा-दृष्टि को जीवन सापेक्ष, मूल्य-सम्पृक्त और समाज-प्रतिबद्ध दृष्टि कहा जा सकता है। कहना चाहे तो इसे प्रगतिवादी समीक्षा-दृष्टि से प्रभावित समीक्षा-दृष्टि कह सकते हैं। पर, मुक्तिबोध ने इस समीक्षा-दृष्टि को एक सर्वथा नया आयाम और मौलिक सस्कार देने की चेष्टा की है: इसे कवि-व्यक्तित्व, सृजन प्रक्रिया और मनोविश्लेषण से जोड कर। इस प्रकार मुक्तिबोध ने अपनी समीक्षा को नितान्त भिन्न रूप मे विकसित किया है। सवाल हो सकता है कि क्या साहित्यालोचन की यह दृष्टि उपयुक्त और प्रामाणिक कही जा सकती

है ? यों तो स्वयं मुक्तिबोध भी 'केवल एक ही कसौटी से साहित्य को नापना उचित नहीं समझते (एक साहित्यिक की डायरी)। वे अपनी समीक्षा दृष्टि की सीमा से भी भली-भांति परिचित हैं और यह स्वीकार करते हैं कि यह दृष्टि साहित्य के साहित्यिक गुणों की परख की कसौटी हमेशा नहीं हो सकती। (एक साहित्यिक की डायरी)। पर उनके विचार में यह दृष्टि चूंकि साहित्यालोचन की एक नयी दिशा सुझाती है अतः 'साहित्य से उस का तकाजा करना गलत नहीं है।' साहित्य को सामाजिक दृष्टि से विवेचित करना गलत नहीं कहा जा सकता—इससे नूतन सम्भावना के आयाम खुल सकते हैं, पर इसे साहित्य समीक्षा-दृष्टि के रूप में प्रतिपादित किये जाने पर अवश्य एतराज किया जा सकता है। सामाजिक, आर्थिक संदर्भों पर ध्यान देने से साहित्यालोचन में सहायता तो मिलती है पर उसे कलाकृति के कलात्मक मूल्य की परख का मानदण्ड नहीं ठहराया जा सकता। साहित्य का मानदण्ड तो साहित्यिक-कलात्मक-सौन्दर्यात्मक ही हो सकता है। सामाजिक-आर्थिक संदर्भ और वास्तविक जीवन के तथ्य और अनुभव तो उस निष्कर्ष की पूर्व-स्थितियों के रूप में मौजूद रह सकते हैं। किसी कलाकृति के विवेचन मूल्यांकन में उनके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता, पर उन्हें अन्तिम कसौटी के रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती।

मुक्तिबोध की समीक्षा दृष्टि का यह केन्द्रीय तत्व, उन की रचना दृष्टि और कवि-कर्म-सम्बन्धी धारणाओं से पर्याप्त प्रभावित है। उनके अनुसार कवि अपने अन्तर में व्याप्त जीवन जगत् को प्रकट करता है। उनका विचार है, 'काव्य रचना केवल व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं, वह एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है और फिर भी वह एक आत्मिक प्रयास है। काव्य रचना को सांस्कृतिक प्रक्रिया मानने के मूल में उनका तर्क यह है कि 'उसमें जो सांस्कृतिक मूल्य परिलक्षित होते हैं, वे व्यक्ति की अपनी देन नहीं समाज की या वर्ग की देन हैं।' इसमें सन्देह नहीं कि काव्य रचना के पीछे सामाजिक सांस्कृतिक प्रभाव-संस्कार रहते हैं और कवि के व्यक्तित्व के मूल स्वभाव के अनुरूप और सृजन प्रक्रिया के दौरान ये प्रभाव-संस्कार बारम्बार बदल जाते हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक सन्दर्भ रचनाकार की मनोभूमिका निर्मित कर सकते हैं, रचना के प्रेरक तत्व बन जाते हैं, रचना प्रक्रिया में भी सक्रिय रह जाते हैं, पर इस सबसे काव्य रचना 'सांस्कृतिक प्रक्रिया' सिद्ध नहीं की जा सकती। इस सारे व्यापार में कृति-व्यक्तित्व और कलात्मक तत्वों का एक बहुत बड़ा रोल होता है। इस 'रोल' के महत्त्व को मुक्तिबोध न जानते हों, ऐसी बात नहीं। उन्होंने इस बात को रेखांकित भी किया है यह कहकर कि काव्य रचना एक आत्मिक प्रयास है। कला के तीन क्षणों का जिस रूप में उन्होंने उद्घाटन किया है वह भी इस बात की गवाही देता है कि काव्य-रचना, अपने मूल रूप में आत्मिक और वैयक्तिक प्रक्रिया है—सांस्कृतिक तत्त्व भले ही इस सबके हों या स्थापित में सहायता पहुंचाते हों।

वैचारिक दृष्टि से मुक्तिबोध मानव-वास्तविकता और समाज के प्रति प्रतिबद्धता के कायल हैं और इसी दृष्टि से काव्य में 'सौन्दर्य' की प्रतिष्ठा और परख करने पर बल देते हैं। दूसरी ओर, रचना स्तर पर उन्हें रचनात्मक प्रतिक्रियाओं की पूरी जानकारी है, अतः वे सौन्दर्य प्रतीति का अविच्छिन्न सम्बन्ध सृजन-क्रिया के साथ जोड़ते हैं। एक ओर तो वे सामाजिक दृष्टि के बिना सौन्दर्य प्रतीति असम्भव मानते हैं। **(आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबन्ध)** तो दूसरी ओर उनकी धारणा है कि सृजन प्रक्रिया से हटकर सौन्दर्य प्रतीति असम्भव हो जाती है **(एक साहित्यिक की डायरी)**। दूसरे शब्दों में कहना चाहें तो उनके विचार से सामाजिक दृष्टि और सौन्दर्य प्रतीति में गुणात्मक रीति से कोई अन्तर नहीं है। उन्होंने एक ओर तो सौन्दर्य प्रतीति को सामाजिक दृष्टि से सम्बद्ध किया है तो दूसरी ओर सृजन प्रक्रिया से। ऐसा करके उन्होंने सौन्दर्य प्रतीति को तो गहरे स्तरों पर उठाया ही है सामाजिक दृष्टि को भी गहरी अर्थवत्ता से संयुक्त किया है। पर यह बात अवश्य खटकती है कि उन्होंने सौन्दर्यानुभूति को कलाकृति की जमीन से उभरे कलात्मक या सौन्दर्यात्मक तत्त्वों के सन्दर्भ में नहीं उठाया। तो क्या वे कलाकृति के रचनात्मक सौन्दर्य को महत्त्व नहीं देते? इस सम्बन्ध में उनके अपने शब्द ही प्रमाण माने जा सकते हैं—'पाठक का यह आदि कर्तव्य और प्रथम धर्म है कि वह कलात्मक सौन्दर्य का आत्मसात करते हुए कृति के मर्म में प्रवेश करे। रचनात्मक सौन्दर्य तो वह सिंहद्वार है जिसमें से गुजर कर ही कृति के मर्म क्षेत्र में विचरण किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। स्पष्ट है कि मुक्तिबोध कलाकृति के कलात्मक महत्त्व को स्वीकार तो करते हैं—पर मानते उसे प्रवेशद्वार ही हैं, कृति का अन्तवर्ती तत्त्व नहीं। अन्तवर्ती तत्त्व तो उनकी दृष्टि में जीवन ही है सौन्दर्य नहीं।

सैद्धान्तिक और तात्त्विक विवेचना के साथ साथ मुक्तिबोध ने अपने समय की समीक्षा-शैलियों और दृष्टियों की भी गम्भीर मीमांसा की है। इनके मूल्य, महत्त्व और सीमा को उन्होंने अपनी समीक्षा दृष्टि के केन्द्र में रखकर आंका है। ऐसा उन्होंने नयी काव्य प्रवृत्तियों के सन्दर्भ में किया है। प्रगतिवादी समीक्षा और समीक्षकों की उन्होंने अच्छी खबर ली है। वे यह मानते हैं कि, आज किसी भी व्यवस्थाबद्ध जैसी विचारधारा का समाज में प्रभाव नहीं—'इतना व्यापक, सर्वांगीण और सघन प्रभाव नहीं कि लेखक सामाजिक वातावरण में से उसे खींच कर आत्मसात कर सके।' इस मूल आधार को ग्रहण कर, वे प्रगतिवादी और आदर्शवादी समालोचकों पर आरोप लगाते हैं कि ये बनते हुए साहित्य की जीवनभूमि से असम्पृक्त रहकर साहित्याक्ति जीवन और साहित्य-सृजन की वास्तविक मानवभूमि, इन दोनों के घनिष्ठ परस्पर-सम्बन्धों के रूप का—इन दोनों के अपने अपने विशिष्ट स्वरूप का आकलन न करते हुए, या छिछली सतही दृष्टि से उनका आकलन करते हुए न्याय निर्णय प्रदान करते हैं। वास्तविक और विविध नवीन साहित्य-कृतियों का मार्मिक विश्लेषण तथा मूल्यांकन करना उन्हें अभीष्ट नहीं।' मुक्तिबोध का यह विवेचन सटीक है और उनकी गहन

सूक्ष्म दृष्टि का परिचायक है। उन्होंने प्रगतिवाद की भीतरी न्यूनताओं को उघाड़कर सामने रखा है पर इसका अर्थ यह नहीं कि उन्होंने नयी कविता के समीक्षा सिद्धान्तों और दृष्टियों की वकालत की है। अपनी मौलिक समीक्षा-दृष्टि द्वारा उन्होंने नयी कविता की मूल प्रकृति को समझने और उसका विवेचन करने का प्रयास किया है पर नयी कविता की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों और मूल्याकन के सिद्धान्तों का उन्होंने तीव्र और जबरदस्त विरोध भी किया है। नयी कविता के निर्विकल्पक सौन्दय-सिद्धात व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त, लघु मानव के सिद्धान्त और तथाकथित आधुनिक भावबोध का उन्होंने आवेशपूर्ण खण्डन किया है। इस विरोध और खण्डन के पीछे उनकी समाज प्रतिबद्ध मूल्य सम्पृक्त दृष्टि काम कर रही है। इस दृष्टि से पूरी तरह सहमत नहीं हुआ जा सकता। आधुनिक बोध के सम्बन्ध में उनकी इस धारणा, जो इस दृष्टि से प्रभावित है को मान्यता नहीं दी जा सकती "अन्याय के खिलाफ आवाज बुलन्द करना आधुनिक भावबोध है। आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत यह भी है कि मानवता के भविष्य निर्माण के सघर्ष में हम और भी अधिक दत्तचित्त हो तथा वतमान स्थिति को सुधारें, नैतिक ह्रास को थाम, उत्पीडित मनुष्य के साथ एकात्म होकर उसकी मुक्ति की उपाय योजना कर।' यह मान्यता आधुनिक भावबोध की पहचान नहीं कराती। इसमें निरा प्रगतिवादी आवेश है।

मुक्तिबोध ने काव्य की सृजन प्रक्रिया का एक रचनाकार की हैसियत से विवेचन करने की कोशिश की है। उनके अनुसार रचना के तीन क्षण होते हैं—'पहला है जीवन का उत्कट अनुभव क्षण। दूसरा क्षण है इस अनुभव का अपने कसकते दुखते हुए मूलों से पृथक् हो जाना और एक ऐसी फैन्टसी का रूप धारण कर लेना मानो वह फैन्टसी अपनी आखो के सामने ही खड़ी हो। तीसरा और अन्तिम क्षण है इस फैन्टेसी के शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया का आरम्भ और उस प्रक्रिया की परिपूर्णावस्था तक की गतिमानता।' मुक्तिबोध की मान्यता है कि शब्दबद्ध होने की प्रक्रिया के भीतर जो प्रवाह बहता रहता है, वह समस्त व्यक्तित्व और जीवन का प्रवाह होता है। मुक्तिबोध ने सृजन प्रक्रिया के दौरान तीन महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाए हैं—काव्य फैन्टेसी का प्रश्न, भाषा का प्रश्न, सौन्दर्य प्रतीति और सामाजिक प्रतिबद्धता का प्रश्न। मुक्तिबोध ने फैन्टसी के प्रश्न को काव्य सृजन-प्रक्रिया के बुनियादी महत्त्व के प्रश्न के रूप में उठाया है और यहीं से अन्य प्रश्नों पर भी दृष्टिपात किया है। फैन्टेसी का जैसा विवेचन उन्होंने किया है वह अत्यन्त गहन और तात्त्विक है। ऐसा लगता है मुक्तिबोध ने कविता के भीतरी तत्वों के पारस्परिक सघात और प्रक्रिया द्वारा फैन्टेसी के स्वरूप की मौलिक परिकल्पना की है, पर, जहाँ वे उसका सम्बन्ध साहित्य-रचना के सामाजिक सन्दर्भों से जोड़कर, फैन्टसी के आधार पर किसी कृति की व्याख्या करने की कोशिश करते हैं, वहाँ उनकी दृष्टि में पूर्वाग्रह हावी हो जाते हैं। उनकी पुस्तक **कामायनी : एक पुनर्विचार** के सन्दर्भ में इसे देखा

जा सकता है। रचना-प्रक्रिया के दौरान फैन्टेसी कैसे जन्मती और विकसित होती है—उसकी निर्माण-प्रक्रिया में रचनाकार का रचना-व्यक्तित्व, रचना-वाह्य व्यक्तित्व, वाह्य परिवेश, जीवन के तथ्यों और अनुभवों का क्या योगदान रहता है—इसे समझा जा सकता है 'कामायनी' की उनकी व्याख्या-विश्लेषण और मूल्यांकन दृष्टि से परिचित होकर। वे 'कामायनी' की कथा को फैन्टेसी मानते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार एक फैन्टेसी में मन की निगूढ़ वृत्तियों का, अनुभूत जीवन समस्याओं का, इच्छित जीवन-स्थितियों का प्रक्षेप होता है, उसी प्रकार 'कामायनी' में भी हुआ है

कामायनी की फैन्टेसी का स्वरूप क्या है? वह मानव समस्या के साथ किस रूप में सम्बद्ध है? प्रसाद के व्यक्तित्व के किन मूलभूत अन्तर्तत्वों से वह प्रेरित है, उसकी रूप-रचना और उसकी समग्र गहन संवेदना पात्रों के जरिए किस रूप में (कलात्मक-अकलात्मक) अभिव्यक्त हुई है—इन सब प्रश्नों पर उन्होंने विचार किया है। पर, लगता है इन प्रश्नों पर उनकी दृष्टि, पूर्वाग्रहों से मुक्त नहीं है। यह दृष्टि, मूलतः मार्क्सवादी चेतना के प्रभाव के परिणामस्वरूप बनी है। इस 'चेतना के' कारण उनके कुछ 'आग्रह' हैं जिनसे उनका मूल्यांकनशील मन ग्रसित है। इन आग्रहों की गिरफ्त में पड़कर वे यदि 'कामायनी' में फैन्टेसी जैसे कला-तत्व या सौन्दर्य-तत्व का विश्लेषण करते-करते, समाजशास्त्रीय या मार्क्सवादी सूत्रों की व्याख्याओं में उलझ गए तो कोई आश्चर्य नहीं।

मुक्तिबोध ने, निस्सन्देह, सृजन प्रक्रिया और उसके दौरान उपलब्ध फैन्टेसी जैसे सौन्दर्य-तत्वों का मौलिक और प्रामाणिक निरूपण किया है। यह जरूर है कि कुछेक स्थलों पर उनके निष्कर्ष उनके विवेचनों के सहज परिणाम प्रतीत नहीं होते। उनकी समीक्षा-दृष्टि का यह एक बुनियादी द्वन्द्व है जिसे उनकी समीक्षाओं में अनेक स्तरों पर देखा जा सकता है।